• ओ३म् •

भूमिका

मुझको इस पुस्तक का प्रकाश करना आवश्यक निदित इसलिये हुआ है कि आज कल देवनागरी वर्णों के उच्चारण में बहुधा जो जो गड़बड़ हुई है उस उस को छोड़ कर यथायोग्य वर्णों का उच्चारण मनुष्य करें। जैसे ज्ञ, इसमें ज्+ञ्+आ, ये तीन अक्षर मिले हैं इनका उच्चारण भी जकार, ञकार और आकार ही का होना चाहिये, किन्तु ऐसा न हो कि जैसे दाक्षिणात्य लोग अर्थात् द्राविड़, तैलङ्ग, करणाटक और महाराष्ट्र "द्नान", गुजराती लोग "ग्यान" और पञ्चगौड़ "ग्यान" ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्ध परम्परा से वेदादिशास्त्रों के पाठ में भी करते हैं। ऐसे ही पञ्चगौड़ प्राय "ष" के स्थान में "स" का और कोई कोई "ख" का और "य" के स्थान में "ज" का उच्चारण करते हैं। वैसे ही बंगाली लोग "व" और "स" के स्थान में भी "श" का उच्चारण किया करते हैं। यह अन्ध परम्परा नष्ट होकर शुद्धोच्चारण की परम्परा होनी योग्य है। और जैसे पाणिनिकृत शिक्षा में तिरसठ अक्षर वर्णमाला में माने हैं उनकी गणना पूरी करने के लिये कई एक लोगों ने "कुं, खुं, गुं, घुं" इन चार को यम मान के तिरसठ अक्षर पूरे किये हैं। भला यहाँ विचारना चाहिये कि जब पूर्वोक्त यम हैं तो "चुं, छुं, जुं, झुं, टुं, ठुं" इत्यादि यम क्यों न हों, और जो कोई कहे कि (पलिक्नी, चख्नतुः,

जग्ग्मि', जय्घ्नु') इत्यादि में "क् ख् ग् घ्" ये वर्ण यम क०।
और प्रातिशाख्य में प्रसिद्ध हैं तो क्या इस बात को वे नहीं जाना
कि वे वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते, क्योंकि वे तो कवर्ग में पढ़े
ही हैं।

ई, तथा अपाणिनीय शिक्षा को पाणिनिकृत मान के पाठ किया
करते और उसको वेदांग में गिनते हैं। क्या वे इतना भी नहीं जानते
कि "अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा" अर्थ—मैं जैसा
पाणिनि मुनि की शिक्षा का मत है वैसी शिक्षा कहूंगा। इस में स्पष्ट
विदित होता है कि यह ग्रन्थ पाणिनि मुनि का बनाया नहीं, किन्तु
किसी दूसरे ने बनाया है। ऐसे २ भ्रमों की निवृत्ति के लिए बड़े
परिश्रम से पाणिनिमुनिकृत शिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर उन सूत्रों को
सुगम भाषा में व्याख्या करके वर्णोच्चारण विद्या की शुद्ध प्रसिद्ध
करता हूँ कि मनुष्यों को थोड़े ही परिश्रम से वर्णोच्चारणविद्या की
प्राप्ति शीघ्र हो जावे।

इस ग्रन्थ में जो २ बड़े अक्षरों में पाठ है वह २ पाणिनिमुनि-
कृत और मध्यम अक्षरों में अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पाठ
और जो २ छोटे अक्षरों में छपा है वह मेरा बनाया है, ऐसा सर्वत्र
समझना चाहिए॥

इति भूमिका समाप्त

ह० दयानन्द सरस्वती (काशी)

दो शब्द

वर्णोच्चारण-शिक्षा, वेदांगप्रकाश और पठनपाठन व्यवस्था में प्रथम पुस्तक है। पाणिनि मुनिकृत शिक्षा सूत्रों के स्थान में आधुनिक श्लोकबद्ध शिक्षा का प्रचार हो जाने से ये शिक्षा सूत्र नष्ट हो गये थे। ऋषि दयानन्द ने भूमिका में स्वयं लिखा है—"बड़े परिश्रम से पाणिनि मुनिकृत शिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर ... ...।" इस लेख से स्पष्ट है कि उन्हें इस शिक्षा का कोई हस्तलेख प्राप्त हुआ था। महाशोक की बात है कि वह हस्तलेख ऋषि के वर्तमान संग्रह में हमें उपलब्ध नहीं होता। ऋषि के संगृहीत बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। आज तक इस शिक्षा का दूसरा हस्तलेख प्राप्त नहीं हुआ * किन्तु बड़े हर्ष की बात है कि इस शिक्षा से प्राचीन महर्षि आपिशलि के शिक्षा सूत्र प्राप्त हो गये हैं और छप भी गये हैं। आपिशलि के शिक्षा सूत्र इस पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों से बहुत मिलते हैं। प्रारम्भ के छः प्रकरणों में बहुत ही स्वल्प भेद है। इन दोनों शिक्षा सूत्रों की तुलना से स्पष्ट होता है कि पाणिनि शिक्षा का जो हस्तलेख ऋषि दयानन्द को प्राप्त हुआ था, वह अपूर्ण और अव्यवस्थित था।

जिस प्रकार पाणिनीय और आपिशल शिक्षा सूत्र परस्पर मिलते हैं, इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण और आपिशल व्याकरण दोनों के सूत्र भी परस्पर बहुत मिलते हैं और पाणिनीय व्याकरण के सदृश आपिशल व्याकरण में भी आठ अध्याय थे।

मथुराप्रसाद शिवहरे,
मैनेजिंग डाइरेक्टर

---

* इस पुस्तक की दूसरी प्रति प्राप्त हो गई है। उसके साहाय्य से यह दुर्लभ आर्ष ग्रन्थ पूर्ण हो जाता है। इसका भाषानुवाद सहित प्रकाशन शीघ्र ही किया जाएगा।

॥ ओ३म् ब्रह्मात्मने नमः ॥

अथ वर्णोच्चारणशिक्षा

(प्रश्न) वर्ण वा अक्षर किनको कहते हैं?

१-(उत्तर) अक्षरं नक्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।
वर्णं वाहु: पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यते॥
महाभाष्य अ० १। पा० १। आ० २॥

मनुष्य (अक्षरं नक्षरम्) जो सर्वत्र व्याप्त जिन का कभी विनाश नहीं होता (वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे) अथवा जिनको पूर्वसूत्र[1] में वर्ण और अक्षर कहते हैं। (विद्यात्) उनको प्रयत्न से जानें।

(प्रश्न) किसलिए इनका उपदेश किया जाता [है]?

२-(उत्तर) वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥
सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः

---

१. महाष्यायी के 'अ इ उ ण्' आदि सूत्रों के व्याख्यान में यह कारिका है, व्याकरण की अपेक्षा में शिक्षा पूर्वसूत्र और उस में भी तम- क्षरं० इसकी अपेक्षा में पूर्व आकाशवायु० इस सूत्र में वर्ण का व्याख्यान।

महाभाष्य में पूर्वसूत्र शब्द का व्यवहार ५, ६ स्थानों पर हुआ है। उन सब स्थानों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्र शब्द से किन्हीं प्राचीन व्याकरण सूत्रों की ओर संकेत है। यु० मी०

फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशि सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति ॥

महाभाष्य अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

मनुष्य (यत्र) जिसमें (ब्रह्म च) शब्द ब्रह्म वेद और परब्रह्म को प्राप्त हों (वाग्विषय) और वे जो वाणी का विषय अर्थात् (वर्णज्ञानम्) वर्णों का यथार्थ विज्ञान है उसको जान सकें (इष्टबुद्ध्यर्थम्) इस इष्ट बुद्धि अर्थात् वर्णों का यथार्थ अभीष्ट ज्ञान और स्वल्प प्रयत्न से महालाभ को प्राप्त होने के लिये अक्षरों का अभ्यास उच्चारण की रीति प्रसिद्ध की जाती है।

सो यह अक्षरों का अच्छे प्रकार कथन वाक्समाम्नाय है अर्थात् अपने शब्दरूपी पुष्प फलों से युक्त चन्द्र और तारागणों के समान सुशोभित आकाश में स्थित (राशि) शब्दों का समुदाय ब्रह्मराशि जानने योग्य है और इसके यथार्थज्ञान में सम्पूर्ण वेदों का फल प्राप्त होते हैं।

इससे वर्णों के ठीक २ उच्चारण से सुनने में प्रीति और भ्रम की निवृत्ति होती है। इसलिए यह वर्णोच्चारण विद्या अवश्य जाननी चाहिये।

(प्रश्न) वर्णों का रूप कैसे प्रकट होता है ?

३–(उत्तर)

आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥१॥

आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होनेवाला नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ जो मुख को प्राप्त होता है उसको नाद कहते हैं वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्ण भाव को प्राप्त होता है, उसको शब्द कहते हैं।

४–(उत्तर) आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की सगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता [है], विद्युत्‌रूप मन जाठराग्नि को ताड़ता [है], वह वायु को प्रेरणा करता [है] और वायु उर स्थल में विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।

(प्रश्न) शब्द का स्वरूप कैसा है ? किस फल को प्राप्त करता और किन पुरुषों से सेवित है ?

५–(उत्तर)

तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति ॥२॥

(विप्राः) विद्वान् लोग (तम्) उस आकाशवायु प्रतिपादित (अक्षरम्) नाशरहित (गुहाशयम्) विद्यासुशिक्षासहित बुद्धि में स्थित (परम्) अत्युत्तम (पवित्रम्) शुद्ध (ब्रह्म) शब्दराशि की

(सम्यक्) अच्छे प्रकार (उशन्ति) प्राप्ति की कामना करते हैं और (स एव) वही (सम्यक् प्रयुक्तः) अच्छे प्रकार प्रयोग किया हुआ शब्द (अभ्युदयेन) शरीर, आत्मा, मन (च) और स्वसम्बन्धियों के लिये इस संसार के सब सुख तथा (श्रेयसा) विद्यादि शुभ गुणों के योग (च) और मुक्तिसुख से (पुरुषम्) मनुष्यों को (युनक्ति) युक्त कर देता है। इसलिए इस वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा से शब्द के विज्ञान में सब लोग प्रयत्न करें।

शब्द का लक्षण

६—श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥

महाभा० अ० १। पा० १। सू० २। आ० २ ॥

यह 'अ इ उ ण्' सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि (श्रोत्रोपलब्धिः) जिसका कान इन्द्रिय से ज्ञान और (बुद्धिनिर्ग्राह्यः) बुद्धि से निरन्तर ग्रहण और (प्रयोगेणाभिज्वलितः) जो उच्चारण से प्रकाशित होता तथा (आकाशदेशः) जिसके निवास का स्थान आकाश है (शब्दः) वह शब्द कहाता है।

(प्रश्न) वर्णमाला में कितने वर्ण हैं ?

७—(उत्तर) त्रिषष्टिः ॥ ३ ॥

तिरसठ हैं। और वे अकारादि वर्णों में विभक्त हैं जैसे—

अकारादि स्वरों का स्वरूप

ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत
अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
ऌ	०	ऌ ३
०	ए	ए ३
०	ऐ	ऐ ३
०	ओ	ओ ३
०	औ	औ ३

कवर्ग—क ख ग घ ङ ।
चवर्ग—च छ ज झ ञ ।
टवर्ग—ट ठ ड ढ ण ।
तवर्ग—त थ द ध न ।
पवर्ग—प फ ब भ म ।
अन्तस्थ—य र ल व ।
ऊष्म—श ष स ह ।

अयोगवाहरूप

ः विसर्जनीय	॑ ह्रस्व
× जिह्वामूलीय १	॒ दीर्घ
× उपध्मानीय २	ँ अनुनासिक चिह्न
ं अनुस्वार	ळ और यह अक्षर
१[क, ख परे रहने पर]	इनको चार यम भी कहते हैं
२[प, फ परे रहने पर]	

उक्त वर्णों में अवर्ग के वर्ण अकार आदि स्वर और कवर्ग आदि वर्गों के वर्ण व्यञ्जन कहाते हैं। स्वर वर्ण शब्दों में शुद्ध स्वरूप से भी रहते और व्यञ्जनों के साथ में मात्रारूप भी आते हैं, मात्रारूप स्वरों में जब व्यञ्जन मिलाये जाते हैं तब प्रत्येक व्यञ्जन बारह प्रकार से कहा जाता है उसका स्वरूप और संयोगचक्र (जिससे कि व्यञ्जन का परस्पर सम्बन्ध विदित होता है) आगे लिखते हैं —

बारह अक्षरों का स्वरूप

क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
।	ा	ि	ी	ु	ू	े	ै	ो	ौ	ं	ः
क	का	कि	की	कु	कू	के	कै	को	कौ	कं	कः

संयोगचक्रम्

क् त् अ-क्त	ज् ञ् अ-ज्ञ	ह् ऋ-हृ	श् र् अ-श्र
क् ष् अ-क्ष	द् य् अ-द्य	क् ऋ-कृ	ह् य् अ-ह्य
त् र् अ-त्र	द् व् अ-द्व	क् रु-क्रु	द् ध् अ-द्ध

स्वरों की संज्ञाएं

९—ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ॥ अ० १। पा० २। सू० २७॥

स्वरों की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से तीन संज्ञा हैं। इनके उच्चारण समय का लक्षण यह कि जितने समय में अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति एक बार होती है उतने समय में ह्रस्व, उससे दूने काल में दीर्घ और उसके तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये।

और स्वरों के उदात्तादि भी गुण हैं—

१०—उच्चैरुदात्तः ॥ अ० १। २। २९ ॥

ऊर्ध्व ध्वनि से उदात्त और—

११—नीचैरनुदात्तः ॥ अ० १। २। ३० ॥

नीचे स्वर से अनुदात्त बोला जाता है।

१२—समाहारः स्वरितः ॥ अ० १। २। ३१ ॥

उदात्त और अनुदात्त स्वरों को मिलाकर बोलना स्वरित कहाता है।

१३—ह्रस्वं लघु ॥ अ० १। ४। १० ॥

ह्रस्व स्वर की लघु संज्ञा और—

१४—संयोगे गुरु ॥ अ० १। ४। ११ ॥

जो दो वा अधिक व्यञ्जनों का संयोग परे हो तो पूर्व ह्रस्व अच् की गुरु संज्ञा होती है। जैसे 'विप्रः' यहां वकार के इकार की गुरु संज्ञा है क्योंकि इसके परे पकार और रेफ का संयोग है।

१५—दीर्घं च ॥ अ० १। ४। १२ ॥

और दीर्घ की भी गुरु संज्ञा है।

१६—हलोऽनन्तरा संयोगः ॥ अ० १ । १ । १७ ॥

अनन्तर अर्थात् अचों का जो व्यवधान उससे रहित हलों की संयोग संज्ञा है।

व्यञ्जन का लक्षण

१७—अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति ॥ म० भा० ॥

अ० १ । पा० २ । सू० २६ । आ० १ ॥

जिनका उच्चारण बिना स्वर के नहीं हो सकता वे व्यञ्जन कहाते हैं।

उच्चारण करने वालों के गुण

१८—माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।

धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥

(माधुर्यम्) वर्णों के उच्चारण में मधुरता (अक्षरव्यक्ति) भिन्न भिन्न अक्षर (पदच्छेद) पृथक् २ पद (तु) और (सुस्वर) सुन्दर ध्वनि (धैर्यम्) धीरता (च) और (लयसमर्थम्) विराम यथा सार्थकता और जैसा ह्रस्व दीर्घ प्लुत उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वर स्पर्श आदि अभ्यन्तर और विवारादि बाह्य प्रयत्न से अपने अपने स्थानों में वर्णों का उच्चारण करना तथा सत्यभाषणादि भी वर्णों के उच्चारण करने वालों के गुण हैं।

स्वरों के उच्चारण में दोष

१६—ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निहितमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् । सन्दष्टमेणीकृतमर्द्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥

महाभाष्य अ० १ । पा० १ । आ० १ ॥

(ग्रस्तम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से पकड़ कर बोलना, (निरस्तम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से ग्रहण कर के फेंक देना, (अविलम्बितम्) जिस का उच्चारण पृथक् पृथक् करना चाहिये उसको वर्णान्तर में मिला के बोलना, (निर्हतम्) जैसे किसी को धक्का देना, (अम्बूकृतम्) जैसे मुख में जल भरके बोलना, (ध्मातम्) जैसे रुई को धुनना वा लोहार की भट्ठी के समान उच्चारण करना, (विकम्पितम्) जैसे कम्प करके बोलना, (सन्दष्टम्) जैसे किसी वस्तु को दांतों से काटते हुए बोलना, (एणीकृतम्) जैसे हरिण कूद के चलते हैं वैसे ऊपर नीचे ध्वनि से बोलना, (अर्धकम्) जितने समय में जिस वर्ण का उच्चारण करना चाहिये उसके आधे समय में बोलना, (द्रुतम्) त्वरा से बोलना, (विकीर्णम्) जैसे कोई वस्तु बिखर जाय जैसा उच्चारण करना। ये सब दोष स्वरों के उच्चारण करनेहारों के हैं।

२०—अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः। शश षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्। मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्।
महाभाष्य अ० १। पा० १। आ० १॥

व्यञ्जनों के उच्चारण में भी दोषों को छोड़कर बोलना चाहिये। जैसे (शशः) इन तालव्य शकारों के उच्चारण में (षष इति मा भूत्) मूर्धन्य षकारों का उच्चारण करना, (पलाश पलाष) यहां भी पूर्ववत् जानना (मञ्चकः) इस च के स्थान में (मञ्जक) ज का उच्चारण करना, इत्यादि व्यञ्जनों के उच्चारण करनेहारों के दोष कहाते हैं। इसलिए जिस जिस अक्षर का जो जो स्थान, प्रयत्न और उच्चारण का मार्ग है, वैसा ही उस उस का उच्चारण करना योग्य है।

(प्रश्न) इस ग्रन्थ में कितने प्रकरण हैं?

२१–(उत्तर)

स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एषो द्विधाऽनिलः ।

स्थानम् पीडयति वृत्तिकार प्रक्रम एषोऽथ नाभितलात् ॥४॥

१ स्थान, २ करण, ३, आभ्यन्तर प्रयत्न, ४ बाह्य प्रयत्न, ५ स्थान में वायु का ताडन, ६ वृत्तिकार, ७ प्रक्रम और ८ नाभि के अधोभाग से वायु का उत्थान, ये आठ प्रकरण क्रम से इस ग्रन्थ में हैं।

अथ प्रथम प्रकरणम्

२२–अकुहविसर्जनीया कण्ठ्याः॥ ५ ॥

अ, आ, अ३, कु अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, ह् और विसर्जनीय इन वर्णों का कण्ठ स्थान है। अर्थात् जो जिह्वा का मूल कण्ठका अग्रभाग काकल्क के नीचे देश है उस कण्ठ स्थान से इनका शुद्ध उच्चारण होता है।

२३–हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् ॥ ६ ॥

कई एक आचार्यों का ऐसा मत है कि हकार और विसर्जनीय का उच्चारण उर स्थान अर्थात् कण्ठ के नीचे और स्तनों के ऊपर स्थान से करना चाहिए।

२४–जिह्वामूलीयो जिह्व्यः ॥ ७ ॥

और वे ऐसा भी मानते हैं कि जिसलिए जीभ के मूल से इस जिह्वामूलीय का उच्चारण होता है इसलिए यह जिह्वामूलीय कहाता है।

२५–कवर्गं ऋवर्णश्च जिह्व्यः ॥ ८ ॥

तथा उनका यह भी मत है कि जिस कारण कवर्ग और ऋवर्ण अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का जिह्वामूल भी स्थान है, इससे इनको जिह्वा की जड़ में से भी बोलना अशुद्ध नहीं।

२६–सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ॥ ९ ॥

जिसलिये अवर्ण का उच्चारण सब मुख में करना शुद्ध है इसलिये कोई आचार्य अवर्ण को सर्वमुखस्थान वाला कहते हैं।

२७–कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके ॥ १० ॥

तथा कई एक आचार्यों का मत ऐसा भी है कि जिन जिन वर्णों का कण्ठ स्थान है उन सब का उच्चारण मुखमात्र में होना भी अशुद्ध नहीं।

२८–इचुयशास्तालव्याः ॥ ११ ॥

जो इ, ई, इ३, चु अर्थात् च, छ, ज, झ, ञ, य और श हैं उनका तालु स्थान अर्थात् दांतों के ऊपर से उच्चारण करना चाहिये, जैसे च के उच्चारण में जिस स्थान में जैसी जीभ की क्रिया करनी पड़ती है वैसे शकार का उच्चारण करना योग्य है।

२९–ऋटुरषा मूर्धन्याः ॥ १२ ॥

ऋ, ॠ, ऋ३, ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष का उच्चारण मूर्धा स्थान अर्थात् तालु के ऊपर से करना चाहिए। जैसी क्रिया ट के उच्चारण में की जाती है वैसी ही ष के उच्चारण में करनी उचित है।

३०–रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् ॥ १३ ॥

कई एक आचार्यों का ऐसा मत है कि र का उच्चारण दांत के मूल से भी करना योग्य है।

३१–दन्तमूलस्तु तवर्गः ॥ १४ ॥

वैसे ही कई एक आचार्यों के मत में तवर्ग अर्थात् त, थ, द, ध, और न का उच्चारण दन्तमूल स्थान से भी करना अच्छा है।

३२–ऌतुलसा दन्त्याः ॥ १५ ॥

लृ, लृ३, तु अर्थात् त, थ, द, ध, न, ल और स इन वर्णों का दन्तस्थान अर्थात् दाँतों में जिह्वा लगा के उच्चारण करना है।

३३–वकारो दन्त्यौष्ठ्य ॥ १६ ॥

व का उच्चारण दाँत और ओष्ठ से होना चाहिये।

३४–सृक्किणीस्थानमेके ॥ १७ ॥

कई एक आचार्यों के मत में वकार को सृक्किणी स्थान से बोलना चाहिये, जो दाँत और ओष्ठ के बीच में स्थान है उसे सृक्किणी कहते हैं।

३५–उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ॥ १८ ॥

उ, ऊ, उ३, प, फ, ब, भ, म, और ≍ इस उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान से उच्चारण करना शुद्ध है।

३६–अनुस्वारयमा नासिक्या ॥ १९ ॥

ळ को छोड़ के ँ और ं अनुस्वार को नासिका से बोलना शुद्ध है।

३७–कण्ठ्यनासिक्यनुस्वारमेके ॥ २० ॥

कई आचार्य अनुस्वार का कण्ठ और नासिका स्थान कहते हैं।

३८–यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् ॥ २१ ॥

कई एक आचार्यों के मत से यम वर्ण अर्थात् ꣳ, ꣴ, ꣵ ये भी नासिका और जिह्वामूल स्थान वाले हैं।

३९–एदैतौ कण्ठ्यतालव्या ॥ २२ ॥

ए, ऐ कण्ठ और तालु से बोलने योग्य हैं।

४०–ओदौतौ कण्ठ्योष्ठ्यौ ॥ २३ ॥

ओ, औ को कण्ठ और ओष्ठ से बोलना शुद्ध है।

४१–ङञणनमा स्वस्थाननासिकास्थाना ॥ २४ ॥

हकारादि पाँच वर्णों को स्व स्व स्थान और नासिका स्थान से बोलना चाहिये।

४२–द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति ॥२५॥

सन्ध्यक्षर अर्थात् जो 'ए, ऐ, ओ, औ' हैं इन में दो दो वर्ण मिले होते हैं। जैसे अ, आ से इ, ई मिल के ए; अ, आ से ए, ऐ मिल के ऐ, अ, आ से उ, ऊ मिल के ओ; अ, आ से ओ, औ मिल के औ हो जाते हैं। जैसे एकार के आदि में अकार का कण्ठ और अन्त में इकार का तालु स्थान है इसी प्रकार औकार में प्रथम कण्ठ और दूसरा ओष्ठ स्थान है।

४३–सरेफ ऋवर्णः ॥ २६ ॥

ऋवर्ण रेफ से युक्त है। अर्थात् इसके उच्चारण में रेफ श्रुति होती है।

इति प्रथमं प्रकरणम् ॥

अथ द्वितीयं प्रकरणम्

अब स्थानों के कहने के पश्चात् दूसरे प्रकरण का आरम्भ करते हैं, इस में जैसी जैसी क्रिया से जिस जिस वर्ण का उच्चारण करना होता है उस उसका वर्णन है। परंतु यहां इतना अवश्य समझना है कि सब वर्णों के उच्चारण में जिह्वा मुख्य साधन है, क्योंकि उसके विना किसी वर्ण का उच्चारण कभी नहीं हो सकता।

४४–जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम् ॥१॥

जिनका जिह्वामूल, तालु, मूर्धा और दन्त स्थान है उनके उच्चारण में जिह्वा मुख्य साधन है, क्योंकि जिस जिस वर्ण का जो जो स्थान

कहा है उस उस में जिह्वा लगाने ही से उनका ज्यों का त्यों उच्चारण होता है। यह सामान्य सूत्र है, इसका विशेष विधान आगे कहते हैं।

४५-जिह्वामूलेन जिह्वयानां तथैषामभ्यासम् ॥ २ ॥

जिन वर्णों का जिह्वामूल अभ्यास अर्थात् उच्चारण स्थान है उन जिह्वामूलीय वर्णों का जिह्वामूल से स्पर्श करके उच्चारण करना चाहिये*

४६-जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम् ॥ ३ ॥

जिन वर्णों का मूर्धा स्थान कहा है उनका उच्चारण जिह्वा के ऊपरले अग्रभाग से मूर्धा को स्पर्श करके करना चाहिये।

४७-जिह्वाग्राधः करणं वा ॥ ४ ॥

इनके उच्चारण में दूसरा पक्ष यह भी है कि जिह्वाग्र के अधोभाग से मूर्धा को स्पर्श करके उच्चारण करना योग्य है।

४८-जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम् ॥ ५ ॥

जिन वर्णों का दन्त स्थान कहा है उनका उच्चारण जिह्वा के अग्रभाग से दाँतों को स्पर्श करके ही करना चाहिये।

४९-इत्येतदन्तःकरणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार से मुख के भीतर स्थानों में वर्णों की उच्चारण क्रिया जाननी चाहिये।

इति द्वितीयं प्रकरणम्।

---

* इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि जिह्वामूलीय वर्णों का जिह्वामूल उच्चारण साधन उनके लिए है जिनको उस प्रकार बोलने का अभ्यास होवे। यु० मी०

अथ तृतीयं प्रकरणम्

अब स्थान और करण के कहने पश्चात् तीसरे प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इसमें आभ्यन्तर प्रयत्नों का वर्णन किया है।

५०–प्रयत्नोऽपि द्विविधः ॥ १ ॥

प्रयत्न भी दो प्रकार के होते हैं।

५१–आभ्यन्तरो बाह्यश्च ॥ २ ॥

आभ्यन्तर और बाह्य।

५२–आभ्यन्तरस्तावत् ॥ ३ ॥

इन दोनों में से प्रथम आभ्यन्तर प्रयत्नों को कहते हैं।

५३–स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ॥ ४ ॥

ककार से लेके मकार पर्यन्त २५ पचीस वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है अर्थात् जिह्वा से स्व स्व स्थानों में स्पर्श करके इन वर्णों का उच्चारण करना शुद्ध है।

५४–ईषत्स्पृष्टकरणाः अन्तस्थाः ॥ ५ ॥

थोड़े स्पर्श करके अन्तस्थ अर्थात् य, र, ल, व, के उच्चारण करना चाहिये।

५५–ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः ॥ ६ ॥

ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है अर्थात् श, ष, स, ह, का उच्चारण कण्ठ को थोड़ा फैलाकर करना चाहिए।

५६–विवृतकरणा वा ॥ ७ ॥

इसमें दूसरा पक्ष यह भी है कि ऊष्मवर्णों का विवृत प्रयत्न है इसलिए इनका उच्चारण कण्ठ खोलकर करना चाहिए।

५७–विवृतकरणाः स्वराः ॥ ८ ॥

स्वरों का विवृत प्रयत्न है इनका उच्चारण कण्ठ को फैलाकर करना चाहिए।

५८–संवृतस्त्वकारः ॥ ९ ॥

अकार का संवृत प्रयत्न है, क्योंकि इसका उच्चारण कण्ठ को संकोच करके होता है।

५९–इत्येषोऽन्तः प्रयत्नः ॥ १० ॥

यह आभ्यन्तर प्रयत्नों का प्रकरण पूरा हुआ।

इति तृतीय प्रकरणम्।

अथ चतुर्थ प्रकरणम्

६०–अथ बाह्याः प्रयत्नाः ॥ १ ॥

अब इसके आगे चौथे प्रकरण में वर्णों के बाह्य प्रयत्नों का वर्णन करते हैं।

६१–वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासाऽनुप्रदानाश्चाऽघोषा ॥ २ ॥

यहाँ वर्ग शब्द से (कु, चु, टु, तु, पु) इन पांचों का ग्रहण है इनके दो दो वर्ण अर्थात् कवर्ग में (क,ख), चवर्ग में (च,छ), टवर्ग में (ट, ठ) तवर्ग में (त, थ) पवर्ग में (प, फ) ऊष्मों में (श, ष, स) और (:) विसर्जनीय (≍) जिह्वामूलीय (≍) उपध्मानीय (ॡ ९) ये दो यम इन अठारह (१८) वर्णों का (विवृत कंठ) अर्थात् कंठ को फैला (श्वासानुप्रदान) उच्चारण के पश्चात् श्वास को युक्त कर और (अघोष) सूक्ष्म ध्वनि की योजनारूप क्रिया करके इनका उच्चारण करना चाहिये।

६२—एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः ॥ ३ ॥

पाचों वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम अर्थात् (क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व) यम प्रथम तृतीय अर्थात् (ꣳ ꣴ) इतने सब अल्पप्राण अर्थात् ये थोड़े और (ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ, श, ष, स, ह) (:) (ᳵ) (ं) (ꣳ, ळ) और अकारादि स्वर ये सब महाप्राण अर्थात् अधिक बल से बोले जाते हैं।

६३—वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ॥ ४ ॥

पांचों वर्गों के तीसरे और चौथे वर्ण अर्थात् (ग, घ, ज, झ, ड, ढ, द, ध, ब, भ) अन्तस्थ अर्थात् (य, र, ल, व) ह (ं) अनुस्वार और तीसरे चौथे यम अर्थात् (ꣴ ळ) तथा सानुनासिक अकारादि स्वर इनका संवृतकण्ठ प्रयत्न अर्थात कंठ का संकोच (नादानुप्रदाना) इन के उच्चारण में अव्यक्त ध्वनि और (घोषवन्त.) इनका उच्चारण गम्भीर शब्द से करना चाहिये।

६४—यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ॥ ५ ॥

वर्गों के तृतीय वर्णों के समान पञ्चम वर्ण अर्थात् (ङ,ञ,ण न,म) के संवृतकठ, नादानुप्रदान और घोषप्रयत्न समझने चाहिये।

६५—आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त ङ, ञ, ण, न, म को मुख से बोले पश्चात् नासिका से बोलना ही इनका आनुनासिक गुण अधिक है।

६६—शादय ऊष्माणः ॥ ७ ॥

शादि अर्थात् (श,ष,स,ह) की ऊष्म संज्ञा है और ये महाप्राण प्रयत्न से बोले जाते हैं।

६७–सस्थानेन द्वितीयाः ॥ ८ ॥

जो पांच वर्गों के दूसरे वर्ण अर्थात् (ख, छ, ठ, थ, फ) हैं वे सकार के समान महाप्राण प्रयत्न से बोलने चाहिए।

६८–हकारेण चतुर्थाः ॥ ९ ॥

वर्गों के चतुर्थ अर्थात् घ, झ, ढ, ध, भ, इन पाच वर्णों का हकार के समान महाप्राण प्रयत्न होता है।

इति चतुर्थं प्रकरणम्।

अथ पञ्चमं प्रकरणम्

६९–तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभिपीडयति ॥ अन्तस्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवद्, ऊष्मस्वरवर्णकरो वायुरूर्णापिण्डवद् । उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः ॥१॥

सब मनुष्यों को उचित है कि जो (स्पर्श) ककार से लेके म पर्यन्त पचीस (२५) वर्ण और चार यम हैं इन को प्रकट करने वाले वायु को लोहे के गोले के समान स्थान में लगा के अन्तस्थ वर्णों के बोलने मे वायु को काष्ठ के गोले के समान स्थान में लगा के और शादि तथा बाईस (२२) स्वरों के उच्चारण में वायु को ऊन के गोले के समान स्थान में लगा के बोला करें। इस प्रकार जो स्थान करण और प्रयत्न कह चुके हैं उनका ज्ञान अवश्य करें।

इति पञ्चमं प्रकरणम्।

अथ षष्ठं प्रकरणम्

७०–अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्य भेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः, एवमिवर्णादयः ॥१॥

अब अकारादि वर्णों के भेद दिखाते हैं—अकार के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद हैं। और जब इन एक एक के साथ ह्रस्व उदात्त, ह्रस्व अनुदात्त, ह्रस्व स्वरित और इसी प्रकार दीर्घ और प्लुत के साथ लगते हैं तब अकार के नव भेद हो जाते हैं। और जब ये सानुनासिक भेदयुक्त होते हैं तब इन नव नव के अठारह अठारह भेद होते हैं। इसी प्रकार इकार आदि स्वरों में प्रत्येक के अठारह भेद समझने चाहियें, परन्तु—

७१–ऌवर्णस्य दीर्घा न सन्ति ॥ २ ॥

जिसलिए ऌकार के दीर्घ भेद नहीं होते—

७२–तं द्वादशभेदमाचक्षते ॥ ३ ॥

इसलिए ऌकार को बारह (१२) भेद से युक्त कहते हैं।

७३–यदृच्छाशब्दे अशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाऽष्टादश भेदं ब्रुवते क्लृपक इति ॥ ४ ॥

जिन लोगों के मत में यदृच्छा शब्द होते हैं उनके मत में अथवा जब अशक्तिज ऋकार के स्थान में बोले गये ऌकार का अनुकरण में प्रयोग करते हैं, तब ऌकार को दीर्घ मान के उस के भी अठारह (१८) भेद होते हैं, जैसे 'क्लृपक' के इस प्रयोग में होते हैं।

७४–सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति, तान्यपि द्वादशप्रभेदानि ॥ ५ ॥

जिसलिए सन्ध्यक्षर अर्थात् (ए, ऐ, ओ, औ) इनके ह्रस्व नहीं होते इसलिए इनके भी बारह भेद होते हैं।

७५—अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिता. सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ॥ ६ ॥

और 'र' को छोड़कर अन्तस्थ अर्थात् (य, ल, व) ये तीन सानुनासिक यँ, लँ, वँ और निरनुनासिक य, ल, व भेद से दो प्रकार के होते हैं।

७६—रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ॥ ७ ॥

जिसलिए 'र' और ऊष्म अर्थात् 'श, ष, स, ह' का कोई सवर्णी नहीं होता, इसलिये इनके परे किसी वर्ण के स्थान में इनका सवर्णी आदेश नहीं होता।

७७—वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः ॥ ८ ॥

परन्तु कु, चु, टु, तु, पु इन पाच वर्ग और य, ल, व इन तीनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा मानी जाती है, जैसे ककार का सवर्णी खकार समझा जाता है, वैसे सर्वत्र समझना चाहिये।

इति षष्ठ प्रकरणम्।

अथ सप्तमं प्रकरणम् ॥

७८—इत्येष क्रमो वर्णानाम् ॥ १ ॥

यह पूर्व अकारादि वर्णों का क्रम कह के—

७९—तत्रैते कौशिकीयाः श्लोकाः ॥ २ ॥

षष्ठ प्रकरण के विषय में कौशिक ऋषि के श्लोक हैं उन में से आगे कुछ विशेष विषयक श्लोक लिखते हैं।

८०-सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्विसर्गादिरिहाऽष्टकः ।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ॥ ३ ॥

विना संयोग के प्राप्त होने से यहां सब वर्णमाला के अन्त में विसर्ग आदि अष्टक = विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, चार यम गिना जाता है और अलग इसकी प्राप्ति होती है इससे विसर्गादि अष्टक अयोगवाह कहाता और वर्णमाला के वर्णों से अलग गिना जाता है। वर्णमाला के व्यञ्जनों में एक अकार अनुबन्ध किया है, वह उच्चारणमात्र के लिए है कि जिससे व्यञ्जन का स्पष्ट उच्चारण हो।

८१-ᳵकᳶपयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः ।
पलिक्क्नी चख्ख्नतुर्जग्ग्मिर्जघ्घ्नुरित्यत्र यद्वपुः ।
नासिक्येनोक्तं कादीनां तद्मेऽयमास्तेषामुकारः संस्थान-
वर्गीयलक्षकः ॥ ४ ॥

ᳵ जिह्वामूलीय और ᳶ उपध्मानीय के साथ में जो ककार और पकार हैं वे तद्वर्गीयाश्रयत्व से हैं अर्थात् उनका कवर्ग और पवर्ग के परे विधान है। इस से उन के साथ में ककार और पकार हैं। पलिक्नी आदि प्रयोगों में जो 'क् ख् ग् घ्' इत्याकारक अंश नासिकास्थानीय 'न् न् म् न्' वर्णों से अप्रकटित अर्थात् गृहीत नहीं होता है वह अयम अर्थात् यम नहीं और ककारादि वर्णों का जो उकार आता है वह सस्थानवीय वर्ण अर्थात् उन वर्गों के सजातीय वर्णों का लक्षक है। जैसे कु, चु, टु, तु, पु इनमें प्रत्येक वर्ण के उकार के संयोग से वर्गमात्र का बोध होता है।

इति सप्तमं प्रकरणम्।

अथाष्टमं प्रकरणम्

८२—उक्ता॰ स्थानकरणप्रयत्नाः ॥ १ ॥

अब सब वर्णों के स्थान, करण और प्रयत्नों को कह चुके, अगले प्रकरण में स्थान आदि के लक्षण कहते हैं।

८३—यत्रस्था वर्णा उपलभ्यन्ते तत्स्थानम् ॥ २ ॥

स्थान उसको कहते हैं कि जहा से प्रसिद्ध होके वर्ण सुनने मे आते हैं।

८४—येन निर्वृत्यते तत्करणम् ॥ ३ ॥

स्थानों में जीभ और प्राण के जिस संयोग से वर्णों का उच्चारण करना होता है, उसको करण कहते हैं।

८५—प्रयतनं प्रयत्न॰ ॥ ४ ॥

जो वर्णों के उच्चारण में पुरुषार्थ से यथावत् क्रिया करनी होती है, वह प्रयत्न कहाता है।

८६—नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुर आदीना स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विचार्यते ॥ ५ ॥

जो ऊपर को श्वास निकलता है उसको प्राण कहते हैं जो आत्मा के उच्चारण की इच्छा से विचारपूर्वक नाभि देश से प्रेरणा किया प्राणवायु ऊपर जो उठता हुआ कण्ठ आदि स्थानो में से किसी स्थान में उत्तम यत्न के साथ विचार जाता है अर्थात् अकारादि वर्णों के पृथक् २ उच्चारण में वायु के संयोग से विचारपूर्व यथायोग क्रिया करनी चाहिये।

सब मनुष्यों को उचित है कि जिस जिस प्रकरण में जिस वर्ण के उच्चारण के लिए जो जो बात लिखी है, उसको ठीक ठीक जान कर विद्यार्थियों को जना के शब्दाक्षरों के प्रयोग ज्यों के त्यों कर प्रशंसित हो सदा आनन्द से युक्त रहें और सब विद्यार्थियों को भी वर्णोच्चारण शुद्ध कराकर आनन्द में रक्खें।

इत्यष्टमं प्रकरणम्।
ऋतुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे माघमासे सिते दले।
चतुर्थी शनिवारेऽयं ग्रंथः पूर्तिं समागतः॥
इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीप्रणीतव्याख्यासहिता पाणिनीयशिक्षा सूत्रसंग्रहान्विता वर्णोच्चारणशिक्षा समाप्ता॥



॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम; सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।



वेदांगप्रकाशे द्वितीयो भागः

सन्धिविषयः

(संशोधितष्टिप्पणीभिरलंकृतश्च)

व्याख्याता—

श्रीमत्स्वामि-दयानन्दसरस्वती

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

★ तत्रत्यो द्वितीयो भागः ★

सन्धिविषयः

पाणिनीयाष्टाध्याय्यां प्रथमो भागः

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः

श्रीपण्डितयुधिष्ठिर-मीमांसकेन संशोध्य

टिप्पणीभिरलंकृतः

पठनपाठनव्यवस्थायां चतुर्थं पुस्तकम्

प्रकाशक

आर्य साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

प्रथमावृत्ति १००० | संवत् [illegible] दयानन्दाब्द १२४ | मूल्य ।।।) आना

प्रकाशक—
आर्य साहित्य मण्डल लि०,
अजमेर.

मुद्रक—
दि फाइन आर्ट प्रिंटिंग
अजमेर

विषयसूची

वेदाङ्गप्रकाश के भागों की क्रमसंख्या

ऋषि दयानन्द ने पढ़ने पढ़ाने के लिये क्रमशः १६ पुस्तकें प्रकाशित कीं। उनमें दो संस्कृतवाक्य-प्रबोध और व्यवहारभानु तथा १४ भाग वेदाङ्गप्रकाश के हैं। वेदाङ्गप्रकाश में १२ भाग व्याकरण विषयक हैं और वर्णोच्चारणशिक्षा तथा निघण्टु स्वतन्त्र वेदाङ्ग हैं अतः वेदाङ्गप्रकाश के प्रत्येक भाग के मुख पृष्ठ पर प्रायः तीन प्रकार की संख्या छपती है। प्रथम वेदाङ्ग प्रकाश के भागों की, दूसरी पाणिनीय अष्टाध्यायी अर्थात् व्याकरण के भागों की, तीसरी पठनपाठनव्यवस्था क्रम की। वै० यं० के छपे वेदाङ्गप्रकाशों पर ये संख्याएं बहुत अव्यवस्थित हैं। हम यहां प्रत्येक भाग की शुद्ध क्रम संख्या नीचे लिखते हैं—

वे० प्र०	संख्या	अष्टा० संख्या	प० पा० व्य० संख्या
			१
वर्णोच्चारण शिक्षा	१	०	४
सन्धिविषय	२	१	५
नामिक	३	२	६
कारकीय	४	३	७
सामासिक	५	४	८
स्त्रैणताद्धित	६	५	९
अव्ययार्थ	७	६	१०
आख्यातिक	८	७	११
सौवर	९	८	१२
पारिभाषिक	१०	९	१३
धातुपाठ	११	१०	१४
गणपाठ	१२	११	१५
उणादिकोश	१३	१२	१६
निघण्टु	१४	०	

ओ३म्

प्रकाशकीय वक्तव्य



ऋषि दयानन्द विक्रम की २० वीं शताब्दी के प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने आर्य भाषा (हिन्दी) और संस्कृत भाषा को देश की राष्ट्र भाषा बनाने के लिये महान् प्रयत्न किया। यह उनके द्वारा लिखे गये अनेकों पत्रों से व्यक्त है। देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर संस्करण) पृष्ठ २५, १२२, १४७, १५२, २९४, २९५, २९७, २९८, ३२४, ३६६, ३६८, ३६९, ३८६, ४१६, ४२९, ४९८।

उन के उस महान् प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि देश में संस्कृत भाषा पढ़ने की एक लहर उत्पन्न होगई। जो व्यक्ति पूरा समय लगाकर किसी शिक्षक से संस्कृत भाषा पढ़ने में असमर्थ थे, उनकी ओर से एक ऐसे ग्रन्थ की मांग होन लगी जिस के द्वारा वे घर बैठे बिना किसी शिक्षक के संस्कृत भाषा पढ़ सकें। ऋषि दयानन्द उस समय वेदभाष्य के महत्त्वपूर्ण कार्य में विशेष रूप से लगे हुए थे। अत उन्होंने उस मांग की पूर्त्ति के लिये उक्त ग्रन्थ का कार्यभार अपने पण्डितों के ऊपर छोड़ दिया। इस प्रकार ऋषि दयानन्द की प्रेरणा और निर्देश के अनुसार पण्डितों ने चौदह भागों में वेदाङ्ग-प्रकाश की रचना की। देखो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (रा० ला० क० सं०) पृष्ठ ३३८, ३७४, ३७६; तथा श्री० महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ४०, ४१, ४०४, ४०५, ४१७, ४१८।

प० भीमसेनजी के आश्विन शु० ६ सं० १९३८ के पत्र से ज्ञात

होता है कि सन्धि-विषय की रचना पं० भीमसेनजी ने की थी। वे लिखते हैं—

"...... यह हाल मेरे बनाए सन्धि-विषय, नामिक और कारकीय में कहीं आपने देखा? ......"।

श्री० म० मुंशीरामजी सं० पत्रव्यवहार पृष्ठ ४० ।

ऋषि दयानन्द को वेदभाष्य आदि की रचना और प्रचार कार्य से इतना अवकाश नहीं मिलता था कि वे वेदाङ्गप्रकाश के सब भागों को पूर्णतया देख सकते। अतः इन ग्रन्थों में व्याकरण की अनेक भूलें रह गईं। सधिन्विषय के प्रथम संस्करण के अशुद्ध मुद्रण के विषय में ऋषि दयानन्द का लेख इस प्रकार है—

सन्धिविषय की तरह अशुद्ध न होने पावे। अब हमने शुद्धिपत्रमात्र देखा तो विदित हुआ कि जो कम विद्यावाला भी ध्यान देकर शोधे तो भी ऐसी अशुद्धि कभी न रह सके।

पत्रव्यवहार (रा० क० सं०) पृष्ठ २७० ।

इसी प्रकार नामिक आदि अन्य भागों के विषय में भी ऋषि के पत्रव्यवहार में यत्र तत्र लिखा है।

वेदाङ्गप्रकाश के जिन भागों (वर्णोच्चारणशिक्षा, सन्धिविषय, नामिक) का द्वितीय संस्करण पं० भीमसेनजी और पं० ज्वालादत्तजी के कार्यकाल में प्रकाशित हुआ उन में पर्याप्त संशोधन कर दिया गया। अतः उन में अपेक्षा कृत अन्य भागों के अशुद्धियां न्यून हैं।

सन्धिविषय के द्वितीय संस्करण (सं० १९४५ आषाढ़) के अन्तिम पृष्ठ पर निम्न सूचना छपी है—

विज्ञापन

यह पुस्तक (सन्धिविषय) जिस समय प्रथम छपा था

उस समय सक्षेपता के विचार से कुछ सूत्र न्यून रक्खे थे, और शीघ्रता के कारण कहीं कहीं अशुद्धिया भी रह गई थीं। अब द्वितीयावृत्ति में अनेक महाशयों की सम्मति से सन्धि सबन्धि विषय शुद्ध कर पूरा छपवाया है। अत एव प्रथम छपी हुई पुस्तक से अब की बार सूत्र अधिक छपे हैं।

ह० भीमसेनशर्मण

हमारी चिरकाल से इच्छा थी कि इन वेदाङ्ग प्रकाशों का शुद्ध और सुन्दर मुद्रण हो, जिससे इन ग्रन्थों के द्वारा व्याकरण पढने वालों को भ्रान्ति न हो। गत नवम्बर मास में प० युधिष्ठिरजी मीमासक ने बताया कि गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज बनारस की प्राचीन व्याकरण और वेद नैरुक्तप्रक्रिया क पाठ्यक्रम में वेदाङ्ग प्रकाश क सन्धि विषय, नामिक, आख्यातिक और उणादि-कोश इन चार भागों का समावेश हो गया है। इस कारण इन का शुद्ध मुद्रण अत्यन्त आवश्यक हो गया है। हमने इन ग्रन्थों के सशोधन का भार प० युधिष्ठिरजी मीमासक पर डाला और उन्होंने इस कार्य का करना सहर्ष स्वीकार किया।

इस सस्करण की विशेषता

मण्डल द्वारा प्रकाशित इस सस्करण में निम्न विशेषताए हैं—

१—व्याकरण सबन्धी समस्त भूलें ऋषि दयानन्द कृत अष्टाध्यायीभाष्य और महर्षि पतञ्जलि विरचित महाभाष्य के अनुसार ठीक कर दी हैं।

२—जिस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है, उसे वैसे ही रहने दिया है और उसका स्पष्टीकरण नीचे टिप्पणी में कर दिया है।

३—जहां कहीं पाठ टूटा हुआ प्रतीत हुआ उसे [ ] कोष्ठ में पूरा कर दिया है।

४—विद्यार्थियों की सुगमता के लिये कई विषय नीचे टिप्पणी में स्पष्ट कर दिये हैं।

५—ग्रन्थ के मध्य और नीचे टिप्पणी में उद्धृत अष्टाध्यायी के सूत्र वेदाङ्ग प्रकाश में जहां जहां व्याख्यात हैं उनके पते दे दिये हैं* जिससे छात्रों को उन सूत्रों का विषय समझने में सरलता हो।

६—यह संस्करण सन्धिविषय के द्वितीय संस्करण के अनुसार है। पृष्ठ ६८, ७१, ७३ पर [ ] कोष्ठ में छपा पाठ आवश्यक होने से प्रथम संस्करण से लिया है, और पृष्ठ ११ पर एक वार्तिक बढ़ाया है, जिस का कारण नीचे टिप्पणी में व्यक्त कर दिया है।

७—ग्रन्थ में व्याख्यात सूत्र और वार्तिकों की सूची वर्णानुक्रम से अन्त में लगा दी है, जिससे उनको ढूंढने में सुगमता हो।

८—इस संस्करण में अष्टाध्यायी के सूत्रों और महाभाष्य के पते प्रायः प्रथम और द्वितीय संस्करण के अनुसार दिये हैं। इस विषय में पृष्ठ १ की टिप्पणी दर्शनीय है।

आशा है इस प्रयत्न से पढ़ने वाले विद्यार्थियों को पर्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रकाशक

*—इस में दिये हुए पते मण्डल द्वारा प्रकाश्यमाण वेदाङ्ग प्रकाश के अनुसार हैं। वैदिक यन्त्रालय के ग्रन्थों में आगे पीछे हैं।

* ओ३म् *

भूमिका

यह सन्धिविषय व्याकरण का प्रथम भाग है और पठन पाठन व्यवस्था में चौथा पुस्तक है[1]। मैंने यह पुस्तक इसलिये बनाया है कि जिससे व्याकरण में जितना सन्धि का विषय है उसको पढनेहारे सुख से समझ लेवें। व्याकरण का यही प्रथम विषय है कि जिसमें अच् के स्थान में हल्, हल् के स्थान में अच् और हल् के स्थान में हल् और अच् के स्थान में अच् भी हो जाते हैं। विना सन्धिज्ञान यह बात समझ में कभी नहीं आ सकती, इसके विना जो-जो शब्द का प्रथम और पश्चात् स्वरूप होता है वह-वह समझ में कभी नहीं आ सकता, इसके विना पदार्थज्ञान और वाक्यार्थज्ञान क्योंकर हो सकता है ? जब तक यह सब नहीं हो तब तक मनुष्य का अभीष्ट प्रयोजन भी प्राप्त नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ में लोक और वेद का विषय सम्पूर्ण रक्खा है, परन्तु पूर्वापर के स्थान में जो आदेश जिस-जिस नियम से होते हैं वह-वह इसी ग्रन्थ से समझ लेना चाहिये। और जो-जो परिभाषा महाभाष्यस्थ हैं उन सब की व्याख्या उदाहरण, प्रत्युदाहरणसहित पारिभाषिक ग्रन्थ में लिखी हैं, क्योंकि जो सन्धिविषयादि व्याकरणविषय के ग्रन्थ क्रम से लक्ष्य पर सब सूत्र घटा कर बनाये हैं जिससे पढने पढानेहारों को कुछ भी क्लेश न हो, इसलिये जो कोई इन ग्रन्थों को पढे वा पढावें वे सब निम्नलिखित रीति से पठ

1 यह वाक्य ग्रन्थ के प्रारम्भ में था, यहां अनुपयुक्त होने से हमने आख्यातिक और स्त्रैणताद्धित के अनुसार यहां रक्खा है।

नपाठन करें और करावें। जहां-जहां एक उदाहरण या प्रत्युदाहरण लिखा है उसके सदृश दूसरे भी उदाहरण प्रत्युदाहरण ऊपर से पढ़ते पढ़ाते जायें कि जिससे शीघ्र ही पूर्ण बोध हो जाय। इसमें तीन प्रकरण हैं—एक संज्ञा, दूसरा परिभाषा, तीसरा कार्य। इनमें से संज्ञा उसको कहते हैं कि जिससे थोड़े परिश्रम करके महालाभ होवे। परिभाषा उसको कहते हैं कि जो संज्ञादि सूत्रों के विषयों की सहायक होकर उसके विषय को निर्दोष करके परिपूर्ण कर देवे। कार्य उसको कहते हैं कि जिससे यथायोग्य शब्दों का साधुत्व किया जाता है। इन तीनों विषयों को जो कोई ठीक ठीक समझ लेगा उसको अमरकोष नामिक आदि ग्रन्थों को शीघ्र उपस्थित करके वेद और लौकिक ग्रन्थों का भी बोध अनायास से होगा।

इस ग्रन्थ में जो सूत्रों के आगे अङ्क हैं वे तो इसी ग्रन्थस्थ सूत्रों की संख्या जनाने के लिये हैं, और अ० इस संकेत के आगे जो तीन अङ्क लिखे हैं उनमें प्रथम अङ्क से अध्याय, दूसरे से पाद तीसरे से सूत्र की संख्या समझी जाती है।

स्वामिदयानन्दसरस्वती.

---

१. वेदाङ्गप्रकाश के कई भागों में क्रमाङ्क सूत्र पाठ के अनन्तर छपे हैं और कइयों में पूर्व। हमने सब भागों में समान शैली करने और सुगमता के लिये क्रमाङ्कों को सूत्र से पूर्व रक्खा है।

ओ३म्

सच्चिदानन्दात्मने नमः

अथ सन्धिविषयः

सन्धि उसको कहते हैं कि जिसमें पूर्वापर वर्णों को मिलाकर पद और वाक्यों का उच्चारण करना होता है। इस ग्रन्थ में इसी विषय की व्याख्या होने से इसका नाम सन्धिविषय रक्खा है।

(प्र०) शब्द नित्य हैं वा अनित्य? (उ०) नित्य हैं।

(प्र०) जब नित्य हैं तो शब्दों में लोप, आगम और वर्णविकार क्यों होते हैं?

(उ०) सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात्। सिद्धमेतत्। कथम्? नित्यशब्दत्वात्। नित्याः शब्दाः। नित्येषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते न संज्ञया आदैचो भाव्यन्ते। महा० अ० १, पाद १, सू० १९,* आ० ६।

---

* इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रों और महाभाष्य के उद्धरणों के जो पते लिखे गये हैं उनमें कहीं कहीं सूत्र सख्या में भिन्नता है। अतः वर्तमान में मुद्रित मूल अष्टाध्यायी और महाभाष्य में उस सख्या पर न मिलें तो दो चार सूत्र आगे पीछे देख लेना चाहिए। क्योंकि इस ग्रन्थ में जो सूत्र सख्या दी गई है वह सूत्रपाठ के योग विभागों और उसमें प्रविष्ट वार्तिकों को निकाल कर गिनी गई है। प्रथमाध्याय के प्रथम पाद की सूत्र संख्याओं में १४, १५ सख्या का अन्तर है क्योंकि ग्रन्थकार ने

ये दोष नहीं आ सकते क्योंकि शब्द नित्य हैं। नित्य शब्दों वर्तमान आदैच् की वृद्धि संज्ञा होती है, संज्ञा से आदैच् बनाये नहीं जाते।

अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः? बाढ युक्तम्। शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता। आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति अनागमकानां सागमकाः। तत्कथम्?

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥

महा० अ० १, पा० १, सू० १४, आ० ५

(प्र०) क्या नित्य शब्दों में आदेशादि का होना युक्त है ?

(उ०) हां, क्योंकि शब्दान्तरों के स्थानों में शब्दान्तरों के प्रयोग मात्र करने को आदेशादि होते हैं। जैसे—'आदि+सु—अन्त+सु—औ' इत्यादि के स्थानों में "आद्यन्तौ" इत्यादि और 'पुरुष+आम्' इत्यादि आगमरहित पदों के स्थानों में "पुरुषाणाम्" ऐसे नुडागम सहित के प्रयोग किये जाते हैं। इसी प्रकार दाक्षा के पुत्र पाणिनि आचार्य के मत में सब शब्दसङ्घातों के प्रयोगविषय में शब्दान्तरों के सङ्घातों का उच्चारण किया जाता है, क्योंकि एकदेशविकार अर्थात् इकार के स्थान में यकार के और यकार के स्थान में इकार आदि कार्य होने से शब्दों का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे आचार्य के स्थान में शिष्य का उपयोग, पिता के स्थानापन्न पुत्र

'अथ शब्दानुशासनम्' और प्रत्याहारसूत्रों को पाणिनीय माना है अर्थात् 'अथ शब्दा०' से अष्टाध्यायी का प्रारम्भ स्वीकार किया है।

देवदत्त के अधिकार में यज्ञदत्त आदि का ग्रहण होता है, तथा घोड़े के स्थान में बैल और बैल के स्थान घोड़ा जोड़ा जाता है। वहां किसी का नाश हो जाता है ?

कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम्। अथवा कार्यविपरिणामात् सिद्धमेतत्। किमिदं कार्यविपरिणामादिति ? कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते ॥

महा० अ० १, पा० १, सू० ७२, भा० ८।

इन शब्दों के प्रयोग होने से भी वे अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि और वाणी की क्रिया ही का विपरिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है, शब्दों का नहीं, क्योंकि जो शब्द अनित्य हों तो उनकी पुनःपुनः प्रसिद्धि नहीं हो सकती। जैसे कोई मनुष्य 'गौः' इसको बोल के मौन अथवा अन्य शब्दों का उच्चारण करके कालान्तर में पुन. गो शब्द का उच्चारण करता है, जो गो शब्द अनित्य होता तो पुनः कहां से आता और क्या उच्चारण के पश्चात् बुद्धि में गो शब्द नहीं रहता ? तथा क्या सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में किसी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का कभी अभाव भी होता है ? इसलिये वहां ऐसा समझना चाहिये कि गो शब्द के उच्चारण में जब तक वाणी की क्रिया गकारस्थ होती तब तक औकार में नहीं, जब तक औकार में रहती तब तक विसर्जनीय में नहीं, जब तक विसर्जनीय में होती तब तक अवसान में नहीं रहती है। इसी प्रकार सर्वत्र वाणी की क्रिया ही का विपरिणाम जानना चाहिये, शब्दों में अवस्थान्तर नहीं।

नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।

महा० अ० १, पा० १, सू० २, भा० २

इसलिये शब्द नित्य हैं, क्योंकि जो-जो शब्दों में वर्ण हैं वे कूटस्थ अर्थात् निश्चल हैं। जो उच्चारण क्रिया से वाड़ित वायु की चालना होने से आकाशवत् सर्वत्र स्थित शब्द सुने जाते हैं सो पर्वत के समान कूटस्थ हैं, न इनका अपाय अर्थात् लोप, न आगम, न विकार और कभी वे चलते [हैं] और आकाश का गुण होने से उसके समान शब्द भी नित्य हैं। इसलिये जो जो शब्दों के विषय में लोप आगम, वर्णविकार आदि की साधन प्रक्रिया शास्त्रों में लिखी है सो सो शब्द अर्थ और सम्बन्ध के जानने के लिए हैं। देखो यह वचन है—

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्? सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे।

महाभाष्ये अ० १, पा० १, आ० १

व्याकरणादि शास्त्रों की प्रवृत्ति नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धों के जानने हो के लिये है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस सन्धि विषय का ज्ञान अवश्य करें और करावें क्योंकि जब अनेक पद अथवा अक्षर मिल कर होते से उनका स्वरूप पहिचानने में नहीं आता, तब उन के ज्ञान के विना पद और पदार्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता, विना इसके प्रीति और व्यवहार की सिद्धि के न होने से सुखलाभ कैसे हो सकता है?

(प्र०) व्याकरणादि शास्त्र पढ़ने के कितने प्रयोजन हैं?

(उ०) रक्षा, ऊह, आगम, लघु, असन्देह, तेऽसुरा, दुष्टः शब्द, यदधीतम्, यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांस, विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्व, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवो असि वरुण इति। ये अठारह (१८) प्रयोजन हैं। इनके अर्थ—रक्षा—मनुष्य लोगों को वेदों की रक्षा के लिये व्याकरणादि शास्त्र अवश्य पढ़ने चाहियें, क्योंकि इनके पढ़ने से

ोप, आगम और वर्णविकार आदि का यथावत् बोध होकर वेदों
ी रक्षा कर सकते हैं। ऊहः—वेदों में सब लिङ्ग और सब विभक्ति
हित शब्दों के प्रयोग नहीं किये हैं, उनका बोध व्याकरणादि शास्त्र
विज्ञानपूर्वक तर्क के बिना यथावत् कभी नहीं हो सकता।
ागमः—सब मनुष्यों को अवश्य उचित है 'कि साङ्गोपाङ्ग वेदों को
ढ़कर यथोक्त क्रिया करके सुखलाभ को प्राप्त हों' सो व्याकरणादि
े पढ़े बिना कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सब विद्याओं को प्राप्त
रने में व्याकरण ही प्रधान है प्रधान में किया हुआ पुरुषार्थ सर्वत्र
हालाभकारी होता है। लघु—मनुष्यों को अवश्य उचित है कि
दादि शास्त्रों के सब शब्द, अर्थ और सम्बन्धों का जानें। सो
व्याकरणादि के पढ़े बिना थोड़े परिश्रम से पूर्वोक्त पदार्थों का सहज
से यथावत् जानना नहीं हो सकता। असन्देह—मनुष्य व्याकर-
णादि को पढ़ के ही शब्दार्थ सम्बन्धों को निस्सन्देह जान सकता
है। तेऽसुराः—जो मनुष्य व्याकरणादि शास्त्रों की शिक्षा से रहित
होते हैं वे हलागुला करके अप्रतिष्ठित होकर नीचता को प्राप्त हो
जाते [हैं], और जो व्याकरणादि की सुशिक्षा से युक्त होते हैं वे श्रेष्ठता
से सम्पन्न होते हैं। दुष्टः शब्दः—स्वर और वर्ण के विपरीत करने
से शब्द दुष्ट और वज्र के समान होकर वक्ता के अभिप्राय को विप-
रीत कर देता है, और जो व्याकरणादि को पढ़ के यथावत् स्वर
और वर्णोच्चारण करते हैं वे ही पण्डित कहाते हैं। यदधीतम्—
ो मनुष्य अर्थज्ञान के बिना पाठमात्र ही पढ़ते जाते हैं उनके हृदय
ं विद्यारूप सूर्य का प्रकाश कभी नहीं होता, और जो व्याकरणादि
ास्त्रों को अर्थसहित पढ़ते हैं वे ही सूर्य के प्रकाश के समान विद्या-
रूप प्रकाश को प्राप्त होकर अन्य मनुष्यों को इनकी प्राप्ति कराके
सर्वदा आनन्दित रहते हैं। यस्तु प्रयुङ्क्ते—जो मनुष्य विशेष
व्यवहारों में शब्दों के प्रयोग ज्यों के त्यों करते हैं वे ही अनन्त

विजय को प्राप्त होते [हैं], और जो ऐसा नहीं करते वे सर्वत्र पराजित होकर सर्वदा दुःखित रहते। अविद्वांसः—जो विद्याहीन मनुष्य होते हैं वे सभा तथा बड़े छोटे मनुष्य के सङ्ग में भाषणादि व्यवहारों को यथावत् नहीं कर सकते, उनको विद्वानों की सभा में स्त्री के समान लज्जित होना पड़ता [है], और जो विद्वान् होते हैं वे पूर्वोक्त व्यवहारों को यथावत् करके सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त होते हैं। विभक्तिं कुर्वन्ति—जो विद्वान् होते हैं वे ही यज्ञकर्म अथवा सभा के बीच में यथायोग्य विभक्तिसहित शब्दों के प्रयोग कर सकते [हैं], और जो व्याकरणादि शास्त्र को पढ़े नहीं होते वे इसमें समर्थ नहीं हो सकते। यो वा इमाम्—जो मनुष्य पद, स्वर और अक्षरों को शुद्धतापूर्वक उच्चारण करके अपनी वाणी को पवित्र करता है वही यज्ञ और सभा आदि व्यवहारों में मान्य को प्राप्त होता है। चत्वारि—जिसके आत्मा में शब्दविद्या प्राप्त होती है वही महाविद्वान् होकर अपने और अन्य सब मनुष्यों के कल्याण करने में समर्थ होता है। उत त्वः—जो मनुष्य व्याकरणादि विद्या को नहीं पढ़ता वह विद्यायुक्त वाणी के दर्शन से रहित होकर देखता और सुनता हुआ भी अन्धे और बहिरे के समान होता [है], और जो इस विद्या के स्वरूप को प्राप्त होता है, उसी को विद्या परमेश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का स्वरूप यथावत् जना देती है। सक्तुमिव—जैसे चलनी से सत्तु को छान कर मैदा और भूसी अलग-अलग कर देते हैं वैसे जो मनुष्य विद्यायुक्त होते हैं वे सत्याऽसत्य का विवेक करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ठीक-ठीक कर सकते हैं। सारस्वतीम्—जब मनुष्य अविद्वान् होते हैं तब भ्रान्तियुक्त होकर सभा और यज्ञशालादि के व्यवहारों में अनृतभाषण कर दूषित हो जाते [हैं] और जो व्याकरणादि [illegible] को पढ़कर वेदोक्त व्यवहारों को यथावत् करते हैं वे ही सुभू-

षित होकर सर्वत्र प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं। दशम्यां पुत्रस्य—मनुष्यों को आवश्यक है कि अपने सन्तानों का नाम जन्म से दशवें दिन शास्त्रोक्तरीति से रक्खें। परन्तु शास्त्रों के पढ़े बिना नाम में दो वा चार अक्षर और वे वर्ण किस प्रकार के हों इत्यादि नहीं जान सकते; और जो विद्वान् होते हैं वे तो शास्त्रोक्त प्रमाणों को जानकर उक्त व्यवहार को यथावत् कर सकते हैं। सुदेवो असि वरुण इति—जैसे विद्वान् लोग सब विद्याओं को पढ़कर सत्य देव कहाते हैं वैसे हम भी हों, इत्यादि प्रयोजनों के लिये शास्त्रों को पढ़ना सब मनुष्यों को अवश्य चाहिये। यह १८ (अठारह) प्रयोजन यहां संक्षेप से लिखे हैं, किन्तु इनके प्रमाण और विस्तारपूर्वक अष्टाध्यायी की भूमिका में लिखेंगे[1]।

सन्धि और संहिता ये दोनों एकार्थ हैं।

(प्र०) संहिता किसको कहते हैं?

(उ०) परः सन्निकर्षः संहिता। शब्दाविरामः, ह्रादाविरामः, पौर्वापर्यमकालव्यवेतं संहिता।

महा० अ० १, पा० ४, सू०, १०८ आ० ४।

जहां पूर्व वर्ण वा पदों का पर के साथ उच्चारण हो अर्थात् शब्द ध्वनि और काल का व्यवधान न हो उसको संहिता कहते हैं। वहां अक्षरों के साथ अक्षर, पदों के साथ पद और वाक्यों के साथ वाक्य मिलाकर उच्चारण किये वा लिखे जाते हैं। जैसे-'अ, अ' ये दोनों मिल कर 'आ' और 'अ, इ' मिल कर 'ए' इत्यादि अक्षरों, 'धर्मार्थकाममोक्षा' इत्यादि पदों और 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्' इत्यादि वाक्यों की संहिता कहाती है।

[1] ऋषि दयानन्द कृत अष्टाध्यायी भाष्य के तीन अध्याय प्रकाशित हुए हैं। यह ग्रन्थ ऋषि के जीवनकाल में प्रकाशित न हो सका, अत एव इस में ऋषि दयानन्द लिखित भूमिका का भी अभाव है।

(प्र०) अवसान किसको कहते हैं ?

(उ०) विरामोऽवसानम् ॥ अ० १, पा० ४, सू० १०९ ॥

जहां क्रिया और वर्ण का अभाव तथा कालव्यवधान हो उसको अवसान कहते हैं क्योंकि "वाक्यं वक्त्रधीनं हि" वाक्य वक्ता के अधीन होता है, चाहे संहिता करे, चाहे अवसान करे। परन्तु इसमें यह नियम समझना अवश्य है कि एकपद, समास और धातु तथा उपसर्ग के योग में तो संहिता ही करनी, और वाक्य में संहिता तथा अवसान दोनों पक्ष शुद्ध हैं। सो चार प्रकार का होता है—स्वर, हल्, हल्स्वर और अयोगवाह सन्धि। स्वरसन्धि उसको कहते हैं कि—जहां दो वा अधिक स्वर मिलकर एक हो जाते हैं। जैसे—अ+अ=आ, अ+इ=ए इत्यादि। हल्सन्धि उसको कहते हैं कि—जहां हल् से परे हल् का मेल हो जाता है। जैसे—कार्त्स्न्यम्। यहां र् त् स् न् य् मिले हैं। हल्स्वरसंधि उसको कहते हैं कि—जहां हल् और अच् का मेल होता है। जैसे—क्+अ=क इत्यादि। और अयोगवाहसन्धि उसको कहते हैं कि—जिसमें अच् और हल् के साथ जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, ꣳकार, अनुस्वार, और विसर्जनीय का मेल होता है। जिह्वामूलीय—देवदत्तᳵकरोति, किन्नरᳵखनति इत्यादि। उपध्मानीय—बालकः पठति, वृक्षःफलति इत्यादि। ह्रस्वꣳकार—सꣳहितासि[1]। दीर्घꣳकार—तेषाꣳसहस्रयोजने[1] इत्यादि। अनुस्वार—प्रशंसन्ति इत्यादि। विसर्जनीय—परमेश्वरः, इत्यादि। पढ़ने और पढ़ानेवाले ऐसी उत्तमरीति से इस को पढ़ें पढ़ावें कि जिससे संयुक्त शब्दों को यथावत् शीघ्र जानकर विद्या के ग्रहण करने और कराने में उपयुक्त होकर शास्त्रों के पढ़ने में सामर्थ्य को प्राप्त करके सुखी हो जावें।

---

1 माध्यन्दिन शिक्षा में ह्रस्व ꣳ और दीर्घ ꣴ की व्यवस्था भिन्न लिखी है 'ह्रस्वात् परो दीर्घः, दीर्घात् परो ह्रस्वः,' अर्थात् ह्रस्व स्वर से परे दीर्घ और दीर्घ स्वर से परे ह्रस्व होता है।

अथ संज्ञाप्रकरणम्

१–अथ शब्दानुशासनम् ॥ १ । १ । १ ॥

शब्दानुशासन शास्त्र का अधिकार किया जाता है। अर्थात् शब्दों को कैसे बनाना, बोलना और परस्पर सम्बन्ध करना चाहिये, इस प्रकार की शिक्षा का आरम्भ किया जाता है। यह प्रतिज्ञासूत्र है।

२ अ इ उ ण् ॥ ३ ऋ ऌ क् ॥ ४ ए ओ ङ् ॥ ५ ऐ औ च् ॥ ६ ह य व र ट् ॥ ७ ल ण् ॥ ८ ञ म ङ ण न म् ॥ ९ झ भ ञ् ॥ १० घ ढ ध ष् ॥ ११ ज ब ग ड द श् ॥ १२ ख फ छ ठ थ च ट त व् ॥ १३ क प य् ॥ १४ श ष स र् ॥ १५ ह ल् ॥ १ । १ । २–१५ ॥

ण के साथ [मिलकर 'अण्'] संज्ञा को प्राप्त होता है सो 'अ इ उ' का ग्राहक होता है । इसी प्रकार 'अच्' के कहने से 'अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ' वर्णों का ग्रहण होता है । और जो अच् प्रत्याहार के बीच में 'ण क च्' आदि आते हैं इनका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि चौदह सूत्रों के चौदह अन्त्य के हलों की इत् संज्ञा होकर लोप होजाता है । यहां व्याकरण के चौदह सूत्रों में जितने प्रत्याहार बनते हैं उनको निम्नलिखित प्रकार से जानो । जैसे-अकार से सात (७) प्रत्याहार-अण्, अक्, अच्, अट्, अम्, अश्, अल् । इकार से तीन (३) प्र०—इक्, इच्, इण् । उकार से एक (१) प्र०—उक् । एकार से दो (२) प्र०—एङ्, एच् । ऐकार से एक (१) प्र०—ऐच् । हकार से दो (२) प्र०—हल्, हश् । यकार से पांच (५) प्र०—यण्, यम्, यञ्, यय्, यर् । वकार से दो (२) प्र०—वश्, वल् । रेफ से एक (१) प्र०—रल् । मकार से एक (१) प्र०—मय् । ङकार से एक (१) प्र०—ङम् । झकार से पांच (५) प्र०—झश्, झष्, झय्, झर्, झल् । भकार से एक (१) प्र०—भष् । जकार से एक (१) प्र० जश् । बकार से एक (१) प्र०—बश् । छकार से एक (१) प्र०—छव् । खकार से दो (२) प्र०—खय्, खर् । चकार से दो (२) प्र०—चय्, चर् । शकार से दो (२) प्र०—शर्, शल् । ये सब मिलकर बयालीस (४२) प्रत्याहार बनते हैं ।

ह्रस्व अकार एङ् अर्थात् ए, ओ इन तीन वर्णों की गुण संज्ञा है। जैसे- तरिता, चेता, स्तोता।

—२०हलोऽनन्तराः संयोगः ॥ १ । १ । २२ ॥

जिनके बीच में कोई स्वर न हो इस प्रकार के दो या अधिक हलों की संयोग संज्ञा है। जैसे-इन्द्रः, अग्निः, आदित्यः, इत्यादि।

२१—मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१।१।२३॥

कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस वर्ण का उच्चारण हो उसकी अनुनासिक संज्ञा हो। जैसे-'ञ, म, ङ, ण, न' इन पांच वर्णों तथा य, ल, व और अकारादि स्वरों के सानुनासिक भेदों को अनुनासिक कहते हैं।

भा०-यत्र प्राकृतात् प्रयत्नाद् विशेषेऽनुपादीयमाने सन्देहो भवति श्रोष्यति न श्रोष्यतीति, तद् दूरमिहावगम्यते ॥ महा० ८ । २ । ८४ ॥

जहां स्वाभाविक प्रयत्न से बुलाने में सुनने न सुनने का सन्देह होता है कि जिसको बुलाते हैं वह सुनेगा वा नहीं उसको दूर कहते हैं। उदाहरण—आगच्छ भो माणवक देवदत्त३ × । यहां दूर-ग्रहण इसलिये है कि [समीप से बुलाने में] 'आगच्छ भो माणवक देवदत्त' यहां प्लुत न हो।

३०—हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥ ८ । २ । ८५ ॥

'है, हे' शब्दों का प्रयोग हो तो दूर से बुलाने में जो वाक्य उस में 'है, हे' शब्दों को प्लुतोदात्त हो । उ०—है३ देवदत्त, देवदत्त है३; हे३ देवदत्त, देवदत्त हे३ । इस में दुबारा 'है, हे' ग्रहण इसलिये है कि वाक्य के आदि अन्त में सर्वत्र 'है, हे' को प्लुतोदात्त हो जावे ।

३१—गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ॥ ८ । २ । ८६ ॥

जो ऋकार को छोड़ के अनन्त्य गुरु वर्ण है उस एक एक को सम्बोधनवाक्य में विकल्प करके प्लुतोदात्त हो । दे३वदत्त, यहां 'दे' गुरु है उसको प्लुतोदात्त होता है । देवद३त्त, यहां दकार को प्लुतोदात्त होता है । इसी प्रकार यज्ञ३दत्त, इत्यादि । यहां 'गुरु' ग्रहण इसलिये है कि वकार को प्लुत न हो । ऋकार का निषेध

× यह प्लुतोदात्त वहीं होता है जहां वाक्य के अन्त में संबोधन होता है, इसलिये 'देवदत्त आगच्छ' यहां वाक्य की टि को प्लुत नहीं होता।

इसलिये है कि 'कृष्णदत्त३' यहां ऋकार को प्लुत न हुआ। 'प्राचां' ग्रहण इसलिये है कि [यह] प्लुत उदात्त विकल्प करके हो। आयुष्मानेधि देवदत्त३। यहां एक पक्ष में [अनन्त्य गुरु वर्ण को प्लुत] नहीं होता। ['अपि' ग्रहण इसलिये है कि वाक्य की टि को भी प्लुत हो जावे।] 'एकैक' ग्रहण इसलिये है कि एक वाक्य में एक साथ कई वर्णों को प्लुत न हो।

३२—ओमभ्यादाने ॥ ८ । २ । ८७ ॥

अभ्यादान अर्थात् आरम्भ अर्थ में जहां ओम् का प्रयोग किया जाता है वहां प्लुतोदात्त होता है। जैसे—ओ३म् इषे त्वोर्जे वा, ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम्, इत्यादि।

३३—ये यज्ञकर्मणि ॥ ८ । २ । ८८ ॥

यज्ञकर्म में 'ये' इस पद को प्लुतोदात्त हो। ये३ यजामहे। "यज्ञकर्म" इसलिये कहा है कि 'ये यजामहे' ऐसा पाठ करनेमात्र में प्लुत न हो, किन्तु विधियज्ञ में जब मन्त्र का प्रयोग हो वहीं प्लुत होवे। 'यजामहे' के साथ ही 'ये' शब्द को प्लुत अभीष्ट है, किन्तु 'ये देवासः' इत्यादि में प्लुत अभीष्ट नहीं।

३४—प्रणवष्टेः ॥ ८ । २ । ८९ ॥

यज्ञकर्म में टि के स्थान में प्रणव आदेश हो और वह प्लुत हो[1]। पाद या आधी ऋचा के अन्त्य टिसंज्ञक (सूत्र ६७) भाग के स्थान में प्लुत ओकार ही प्रणव कहाता है। उदा०—अपां रेतांसि जिन्वतो३म् इत्यादि।

---

१ यज्ञकर्म में यह प्रणव आदेश उन्हीं मन्त्रों की टि भाग को होता है जिनका यज्ञकर्म में पाठ मात्र होता है अर्थात् जिन मन्त्रों के अन्त में 'वौषट्' या 'स्वाहा' आदि का निर्देश करके उन से आहुति नहीं दी जाती। यथा-सामधेनी मन्त्र। देखो शांख्यायनश्रौत अ० १,

३५—याज्यान्तः ॥ ८ । २ । ९० ॥

यज्ञकाण्ड[1] में पढ़े हुए मन्त्रों के अन्त का जो टिसंज्ञक भाग है उसका प्लुत हो। उ॰—स्तोमैर्विधेमाग्नये३, जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म्। इस में 'अन्त' ग्रहण इसलिये है कि कोई कोई ऋचा वाक्यसमुदायरूप हैं उनमें प्रत्येक वाक्य के अन्त्य टिभाग को प्लुत न हो, किन्तु मन्त्रान्त में ही हो।

३६-ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः ॥८।२।९१॥

ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट् और आवह इनके आदि अक्षर को उदात्त प्लुत हो। उ०—अग्नयऽनुब्रू३हि, अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य, अस्तु श्रौ३षट्, सोमस्याग्ने वीहा३ वौ३षट्, अग्निमा३वह।

३७—अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ॥ ८ । २ । ९२ ॥

अग्नीध् [संज्ञक] ऋत्विग् विशेष को प्रेरणा करने में आदि और उससे पर को भी प्लुतोदात्त हो। उदाहरण–ओ३ श्रा३वय, इत्यादि।

३८-विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ॥८। २ । ९३॥

—

क॰ १। इस प्राचीन याज्ञिक परिपाटी से अनभिज्ञ कई महानुभाव उक्त पाणिनीय सूत्र के आधार पर स्वाहान्त मन्त्रों में भी टि को प्रणव आदेश करते हैं, वह अशुद्ध है। क्योंकि ये सूत्र यज्ञ कर्म में स्वतन्त्र विधायक नहीं हैं। याज्ञिक ग्रन्थों में कहे हुए नियम के अनुवादक मात्र हैं। अत एव पूर्व सूत्र से 'ये देवास' में 'ये' पद को प्लुत नहीं होता।

[1] यज्ञकर्म में 'वौषट्' शब्द का प्रयोग करके जिन मन्त्रों से आहुति दी जाती है उन को याज्या कहते हैं। ऐसे याज्या मन्त्र मैत्रायणी आदि संहिताओं में जिस स्थान में पढ़े हैं वह याज्याकाण्ड कहाता है।

पूछे हुए के उत्तर देने में हि को प्लुतोदात्त हो विकल्प करके। उ०—अकार्षीः कटं देवदत्त? अकार्षं हि ३, अकार्षं हि, इत्यादि। 'पृष्टप्रतिवचन' ग्रहण इसलिये है कि 'कटङ्करिष्यति हि' यहां न हो।

३९-निगृह्यानुयोगे च ॥ ८ । २ । ९४ ॥

वादी को प्रमाणों से उस के पक्ष से हटा के [लज्जित करने के लिये] उस के मत को प्रकट करने में जो वाक्य [है] उसके टिभाग को प्लुतोदात्त विकल्प से हो। उदा०—अनित्यः शब्दः, किसी ने यह प्रतिज्ञा की, उसको युक्ति से हटा के उपहासपूर्वक कहे कि 'अनित्यः शब्द इत्यात्थ३' आप ने यही कहा था इत्यादि।

४०-आम्रेडितं भर्त्सने ॥ ८ । २ । ९५ ॥

धमकाने अर्थ में आम्रेडित वा उसके पूर्वभाग को प्लुतोदात्त हो[1]। उदा०—चौर चौर ३, चौर ३ चौर घातयिष्यामि त्वा; दस्यो दस्यो ३, दस्यो ३ दस्यो बन्धयिष्यामि त्वा इत्यादि।

४१-अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ॥ ८ । २ । ९६ ॥

अङ्ग शब्द से युक्त सापेक्ष जो तिङन्त है उसके टि को धमकाने अर्थ में प्लुतोदात्त हो। उदा०—अङ्ग कूज३, अङ्ग व्याहर३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म! इत्यादि। 'तिङ्' इसलिये कहा कि 'अङ्ग देवदत्त' यहां न हो।

४२-विचार्यमाणानाम् ॥ ८ । २ । ९७ ॥

जो विचार्यमाण वाक्य हैं उनकी टि को प्लुतोदात्त हो। जैसे-

---

1 द्विर्वचन में द्वितीय रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है (तस्य परमाम्रेडितम्। अ० ८, १, २), परन्तु यहां पर आम्रेडित ग्रहण द्विर्वचन का उपलक्षक मात्र है। अतः पर्याय से दोनों को प्लुत उदात्त होता है। इसी को ध्यान में रख कर उपर्युक्त सूत्रार्थ किया है।

होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ इति । यहां दीक्षित के घर में हवन करना चाहिये [या नहीं करना चाहिये] यह विचार करते हैं[1]।

४३-पूर्वं तु भाषायाम् ॥ ८ । २ । ९८ ॥

लौकिक प्रयोग में विचार्यमाण वाक्यों के पूर्व प्रयोग में प्लुतोदात्त हो । जैसे—अहिर्नु३, रज्जुनु ? यह साप है वा रज्जु ?

४४—प्रतिश्रवणे च ॥ ८ । २ । ९९ ॥

स्वीकार अर्थ मे जो वाक्य उसके टि को प्लुतोदात्त हो । गां देहि भो ; अह ते ददामि३ ।

४५—अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ॥ ८ । २ । १०० ॥

प्रश्न के अन्त में और अभिपूजित अर्थ में अनुदात्त प्लुत हो । प्रश्नान्त—अगम३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ इति, पटा३उ इति । यहां 'अगम३ पूर्वा३न् ग्रामा३न्' [पदों में वक्ष्यमाण 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' (५०) सूत्र] से प्लुत हुआ है । अभिपूजित-शोभन खल्वसि माणवक३ इत्यादि ।

४६—चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ॥८।२। १०१॥

उपमार्थवाची चित् अव्यय के प्रयोग में जो वाक्य उसकी टि को प्लुतानुदात्त हो । उदा०—अग्निचिद्भाया३त्, राजचिद्भाया३त् । अग्नि के तुल्य वा राजा के तुल्य तेजस्वी होवे । उपमार्थ इसलिये कहा कि 'कथंचिदाहुः' यहां प्लुत न हो । प्रयुज्यमान इसलिये है कि 'अग्निर्माणवको भायात्' यहां न हो ।

1. यद्यपि इस सूत्र में छन्दोग्रहण नहीं किया, तथापि उत्तर सूत्र में भाषा ग्रहण से विदित होता है कि यह नियम वैदिक ग्रन्थों के लिये है ।

४७—उपरिस्विदासीदिति च ॥ ८।२।१०२ ॥

उपरिस्विदासीत इस वाक्य के टि को प्लुतानुदात्त हो। उपरिस्विदासी३ त्।

४८—स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासंमतिकोपकुत्सनेषु ॥ ८ । २ । १०३ ॥

जो आम्रेडित (द्विर्वचन का परभाग) परे हो तो असूया, संमति, कोप और कुत्सन अर्थ में पूर्वभाग को स्वरित प्लुत हो। असूया—माणवक३ माणवक अविनीतोऽसि। समति—प्रियंवद ३ प्रियंवद शोभनः खल्वसि। कोप—दुर्जन ३ दुर्जन तूष्णींभव। कुत्सन—याष्टीक ३ याष्टीक रिक्ता ते यष्टिः, इत्यादि।

४९—क्षियाशीः प्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ॥ ८ । २ । १०४ ॥

क्षिया = आचार बिगाडना, आशीर्वाद और आज्ञा देने अर्थ में अन्य उत्तरपद की आकाङ्क्षा रखनेवाला तिङन्त पद प्लुतस्वरित हो। [क्षिया—] स्वयं रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति। [आशीः—] सुतांश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात। [प्रैष-] कटं कुरु२ ग्रामं च गच्छ। आकाङ्क्षा ग्रहण इसलिये है कि 'दीर्घं ते आयुरस्तु' यहां प्लुत न होवे।

५०—अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥ ८ । २ । १०५ ॥

प्रश्न और आख्यान अर्थ में अन्त्य और अनन्त्य पद के भी टिभाग को प्लुतस्वरित होवे। अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ। आख्यान में—अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् भोः।

५१—प्लुतावैच इदुतौ ॥ ८ । २ । १०६ ॥

'दूराद्धूते०' इत्यादि सूत्रों में जो प्लुत विधान किया है वहां ऐच् को प्लुत होवे तो उसके अवयव इकार उकार का प्लुत हो। ऐ३तिकायन, औ३पगव। यहां जब इवर्ण, उवर्ण [और] अवर्ण का समविभाग समझा जाता है तब इकार उकार द्विमात्र प्लुत होजाते हैं।

५२—एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ ॥ ८ । २ । १०७ ॥

दूर से बुलाने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थों में जो अप्रगृह्य एच् है उसके पूर्व अर्धभाग को आकारादेश हो और उत्तरभाग को इकार उकार आदेश हों।

५३—भा०—प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्विति वक्तव्यम् ॥ ८ । २ । १०७ ॥

१ इस सूत्र में कार्यविधान है वह प्रश्नान्त, अभिपूजित, विचार्यमाण, प्रत्यभिवाद और याज्यान्तविषय में समझना चाहिये। प्रश्नान्त—अगम३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ। अभिपूजित—सिद्धोऽसि माणवक३ अग्निभूता३इ, पटा३उ। विचार्यमाण—होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ। प्रत्यभिवाद-

१ अर्थात् यहां 'इकार उकार' की तीन मात्रा नहीं होती, दो मात्रा होती है, क्योंकि एक मात्र अकार की है। यह वृत्तिकार का मत है। भाष्यकार के मत में 'इ, उ' की तीन मात्रा होती है और एक मात्रा अकार की अर्थात् ऐच् को चतुर्मात्रिकप्लुत होता है। महाभाष्यकार ने इसी सूत्र पर कहा है—इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुत इति।

आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ । याज्यान्त—उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे, स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ, इत्यादि । पूर्वोक्त विषयों में परिगणन इसलिये किया है कि 'विष्णुभूते [विष्णुभूते३] घातयिष्यामि त्वाम्' यहां न हुआ ।

५४—वा०—एचः प्लुतविकारे पदान्तग्रहणम् ॥

महा० ८ । २ । १०७ ॥

जहां एच् को पूर्व सूत्र से आदेश करते हों वहां पदान्त [में] समझना चाहिये । पदान्तग्रहण से यहां नहीं होता—भद्रं करोषि गौः । [क्योंकि] यहां अन्त में विसर्जनीय है । यहां अप्रगृह्य ग्रहण इसलिये है कि 'शोभने खलु माले ३' [यहां न हो] ।

५५—वा०—आमन्त्रिते छन्दस्युपसंख्यानम् ।

महा० ८ । २ । १०७ ॥

आमन्त्रित जो एच् उसको वेदविषय में पूर्वोक्त प्लुतविकार हो । जैसे—अग्ना३इ पत्नीवः ।

५६—तयोर्य्वावचि संहितायाम् ॥८।२।१०८॥

पूर्वोक्त इकार उकार को य् व् आदेश क्रम से होते हैं अच् परे रहते संहिता में । अग्ना३य्यिन्द्रम्, पटा३वुदकम् ।

(इति प्लुतप्रकरणम्)

५७—ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ १ । १ । २६ ॥

ई, ऊ, ए, ये जिनके अन्त में हों ऐसे जो द्विवचनान्त शब्द वे प्रगृह्य-संज्ञक हों । जैसे—अग्नी इमौ, वायू इमौ, माले इमे,इत्यादि ।

५८—अदसो मात् ॥ १ । १ । २७॥

अदस् शब्द के मकार से परे ई, ऊ की प्रगृह्य संज्ञा हो । जैसे—अमी एते, अमू इति ।

५९—शे ॥ १ । १ । २८ ॥

जो [सुप्] विभक्ति के स्थान में शे आदेश होता है उसकी प्रगृह्य संज्ञा हो। जैसे—अस्मे इन्द्राबृहस्पती।

६०—निपात एकाजनाङ् ॥ १ । १ । २९ ॥

आङ् को छोड़कर जो केवल एक ही अच् निपात है वह प्रगृह्य-संज्ञक हो। जैसे—अ, इ, उ। अ अपक्राम, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ।

६१—ओत् ॥ १ । १ । ३० ॥

जो ओकारान्त निपात है वह प्रगृह्य संज्ञक हो। जैसे—अथो इति, अहो इमे, ओ इह, इत्यादि।

६२—संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ॥१।१।३१॥

जो अनार्ष अर्थात् लौकिक इति शब्द के परे संबुद्धिनिमित्तक ओकार है उसकी शाकल्य ऋषि के मत में प्रगृह्य संज्ञा हो। जैसे—वायो इति। अन्य ऋषियों के मत में—वायविति। यहां 'अनार्षे' ग्रहण इसलिये है कि आर्ष अर्थात् वैदिक इति शब्द के परे प्रगृह्य संज्ञा न हो। जैसे—[ब्रह्म] बन्धवित्यब्रवीत् इत्यादि।

६३—उञ ऊँ ॥ १ । १ । ३२ ॥

शाकल्य आचार्य के मत में अनार्ष इति शब्द परे हो तो उञ् की प्रगृह्य संज्ञा और उञ् के स्थान में ऊँ ऐसा आदेश हो, उसकी भी प्रगृह्य संज्ञा हो। जैसे–उ इति, ऊँ इति। [अन्य ऋषियों के मत में–] विति।

६४—ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ १ । १ । ३३ ॥

सप्तमी विभक्ति के अर्थ में वर्तमान ईकारान्त ऊकारान्त शब्द प्रगृह्य संज्ञक हों। उ०—मामकी इति, तनू इति, सोमो गौरी अधि श्रितः।

६५—नवेति विभाषा ॥ १ । १ । ५८ ॥

निषेध और विकल्प के अर्थ की विभाषा संज्ञा हो।

६६—अदर्शनं लोपः ॥ १ । १ । ७४ ॥

विद्यमान के अदर्शन की लोप संज्ञा हो।

६७—अचोऽन्त्यादि टि ॥ १ । १ । ७८ ॥

जो अचों के बीच में अन्त्य अच् है उससे लेके जो अन्त्यादि समुदाय सो टिसंज्ञक होता है। जैसे—अग्निचित्। यहां अन्त्य के इत् भाग की टि संज्ञा है।

६८—अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥ १ । १ । ७६ ॥

जो वर्ण समुदाय पद में अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण है उसकी उपधा संज्ञा होती है। जैसे—निर्, दुर्। यहां इ, उ की उपधा संज्ञा है।

६९—ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ॥ १ । २ । २७ ॥

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक अच् क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतसंज्ञक हों। अ, आ, आ३।

७०—सुप्तिङन्तं पदम् ॥ १ । ४ । १४ ॥

सुबन्त और तिङन्त शब्दों की पदसंज्ञा हो।

७१—प्राग्रीश्वरान्निपाताः ॥ १ । ४ । ५६ ॥

यह अधिकार सूत्र है। इससे आगे जो कहेंगे उनकी निपात संज्ञा होगी।

७२—चादयोऽसत्त्वे ॥ १ । ४ । ५७ ॥

जहां किसी द्रव्य के वाचक न हों वहां च आदि शब्द निपात-संज्ञक हों। च, वा, ह, इत्यादि की निपात संज्ञा है।

७३–प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे ॥ १ । ४ । ५८ ॥

प्र आदि शब्द असत्त्व अर्थ में निपातसंज्ञक और क्रियायोग में उपसर्गसंज्ञक [भी] हों।

७४–गतिश्च ॥ १ । ४ । ५९ ॥

क्रियायोग में प्रादि शब्द गतिसंज्ञक भी हों।

७५–परः संनिकर्षः संहिता ॥ १ । ४ ।१०८॥

पर=अतिशयकर जो सन्निकर्ष अर्थात् वर्णों की समीपता है उसकी संहिता संज्ञा हो।

७६–विरामोऽवसानम् ॥ १ । ४ । १०९ ॥

समाप्ति अर्थात् जिसके आगे कोई वर्ण न हो उस अन्तिम वर्ण की अवसान संज्ञा होवे।

॥ इति संज्ञाप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ परिभाषाप्रकरणम्

७७–समर्थः पदविधिः ॥ २ । १ । १ ॥

जो कुछ इस व्याकरण शास्त्र में पद को कार्यविधान सुना जाता है वह समर्थ को जानना चाहिये। व्याकरण में प्रथम यही परिभाषा सर्वत्र प्रवृत्त होती है, क्योंकि "अपदं न प्रयुञ्जीत" अपद अर्थात् सुप् तिङ प्रत्यय से रहित शब्द का प्रयोग कभी न करना चाहिये। और सुप् तथा तिङ् भी समर्थ ही से होते हैं असमर्थ से नहीं, क्योंकि विना संज्ञा के सामर्थ्य नहीं होता, सामर्थ्य के विना उससे प्रयत्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती और इसके विना प्रयोग भी नहीं बन सकता।

क्योंकि:—"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न च केवलः प्रत्ययः। प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह मतः"।

इस महाभाष्य के वचन का अभिप्राय यही है कि [प्रकृतिप्रत्यय] दोनों के मिले विना कोई भी प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण सामर्थ्य से विना किसी प्रत्यय कार्य वा कोई व्याकरण की बात पृथक् नहीं हो सकती। इसलिये इसी सूत्र के भाष्य में [कहा है]—

"परिभाषायां च सत्यां यावान् व्याकरणे पदगन्धो नाम स सर्वः संगृहीतो भवति"।

यह परिभाषा सूत्र है। इसलिये जो कुछ व्याकरण का विषय है उस सब में इस सूत्र की प्रवृत्ति अवश्य होती है, क्योंकि जैसे विना धातुसंज्ञा के भ्वादि शब्द कृत्संज्ञक प्रत्ययों की उत्पत्ति में समर्थ नहीं होते, और कृत्संज्ञक प्रत्यय भी धातु से परे नहीं हो सकते, वैसे विना प्रातिपदिक संज्ञा के 'टाप्' आदि भी और

आदि तद्धित प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते, क्योंकि विना प्रातिपदिक संज्ञा के उनका सामर्थ्य ही नहीं है जो सुप् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति करा सकें, और सुप्, स्त्री और तद्धितसंज्ञा के विना सुप् आदि प्रातिपदिकों के आगे होने में भी समर्थ नहीं हो सकते, ऐसे ही सर्वत्र समझ लेना। इस सूत्र [के पदच्छेद] में दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष में दो पद और दूसरे पक्ष में एक पद है। इससे आचार्य का यह अभिप्राय विदित होता है कि प्रथमपक्ष से व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य, जिसमें पृथक्-पृथक् पद अलग-अलग स्वर और भिन्न-भिन्न विभक्ति रहती हैं उसका प्रकाश और दूसरे पक्ष से एकार्थीभाव सामर्थ्य अर्थात् जिसमें अनेक पदों का एकपद, अनेक स्वरों का एक स्वर, और अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति हो जाती है। और जो व्यपेक्षा सामर्थ्य में समर्थ शब्द के आगे उत्तरपद 'विधि' शब्द का लोप भी किया है इससे यह सिद्ध होता है कि व्याकरण आदि सब शास्त्र और लोकव्यवहार में भी समर्थ के लिये सब विधान है, असमर्थ के लिये कुछ भी नहीं। जैसे आंख वाला देखने में समर्थ होता है इसलिये उसको देखने का उपदेश भी करते हैं कि इसको तू देख, अन्धे को कोई नहीं कह सकता, क्योंकि वह देखने में समर्थ नहीं है। वैसे ही कोई सामर्थ्य वाले के लिये जो कुछ विधान करता है वह शुद्ध और सफल, और जो कोई इससे उलटा करता है वह अशुद्ध और निष्फल समझा जाता है। इसलिए यह सूत्र जितने व्याकरण आदि शास्त्रों के विषय हैं उन सब में लगता है। इससे यह भी समझना कि जो भट्टोजिदीक्षित ने कौमुदी में इस सूत्र को समास ही में प्रवृत्त किया है सो अशुद्ध ही है।

७८—इको गुणवृद्धी ॥ १ । १ । १८ ॥

जहां-जहां गुण और वृद्धि शब्द करके गुण और वृद्धि का विधान करें वहां-वहां इक् ही के स्थान में गुण और वृद्धि होते हैं।

ऐसा सर्वत्र व्याकरण-शास्त्र में समझ लेना। यहां अ, ए और ओ की गुण संज्ञा, आ, ऐ और औ की वृद्धि संज्ञा है। जैसे—कर्ता। यहां ऋ के स्थान में अ गुण[1] होकर रपर[2] हो गया है। चेता—यहां इकार के स्थान में एकार, और स्तोता—यहां उकार को ओकार गुण[3] हुआ है। वृद्धि—आकार्षीत्। यहां ऋ के स्थान में आर् वृद्धि, 'अनैषीत् अचैषीत्'—यहां ई और इ के स्थान में ऐ, और 'अलावीत्, अस्तावीत्'—यहां ऊ और उ के स्थान में औ वृद्धि हुई है[4]। इक् ग्रहण इसलिये है कि 'अन्तगः' यहां ओष्ठस्थानी गम् धातु के मकार व्यञ्जन के स्थान में ओष्ठस्थानी ओकार गुण न होवे। और गुण वृद्धि ग्रहण इसलिये है कि जहां संज्ञा शब्दों से गुण वृद्धि कहें वहीं इक के स्थान में हों। द्यौः—यहां दिव् शब्द को औकारादेश कहा है,[5] सो संज्ञापूर्वक विधि के न होने से वकार के स्थान में होता है, और 'सः' यहां दकार के स्थान में अकारादेश होता है[6]।

१. सार्वधातुकार्धधातुकयोः (आ० २१) सूत्र से। २. उरण् रपरः (सन्धि० ८५) सूत्र से। ३. सार्वधातुकार्धधातुकयोः (आ० २१) सूत्र से। ४. वृद्धि के सब उदाहरणों में 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (आ० १५८) से वृद्धि होती है। सन्धिविषय के अन्य संस्करणों में वृद्धि के 'कारकः, नायकः, ऐतिकायनः, पावकः, औपगवः' उदाहरण दिये हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि इन उदाहरणों में 'अचोऽञ्णिति' (आ० ६१) और 'तद्धितेष्वचामादेः' (कै० ९१४) सूत्र से वृद्धि होती है। यहां स्थानी का 'अचः' स्पष्ट निर्देश किया है। इस सूत्र की प्रवृत्ति वहां होती है जहां स्थानी का निर्देश न हो। जैसे—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (आ० २१)। क्योंकि यह परिभाषा सूत्र है, परिभाषा सूत्रों की प्रवृत्ति वहीं होती हैं जहां अनियम की प्राप्ति हो—अनियमप्रसंगे नियमकारिणी परिभाषा। ५. दिव औत् (ना० १५१) सूत्र से। ६. त्यदादीनामः (ना० १७६) सूत्र से।

७६—आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १ । १ । ३५ ॥

जैसे आदि और अन्त में कार्य होते हैं वैसे एक में भी हों अर्थात् अनेकाश्रित कार्य एक का भी हो जावे। जिससे पूर्व कोई न हो और परे हो उसको आदि[1] और जिससे परे कोई न हो पूर्व हो उसको अन्त[2] कहते हैं। इस कारण आदि अन्त को कहे हुए कार्य एक में नहीं बन सकते, इसलिये यह परिभाषा है। जैसे—'आर्धधातुकस्येड् वलादेः'[3] अङ्ग से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है सो 'करिष्यति हरिष्यति' यहां तो स्य प्रत्यय के वलादि होने से होजाता है और 'जागृवत्, मन्दिवत्' यहां केवल एकाक्षर (सिप्-का स्) वल् प्रत्यय होने से नहीं प्राप्त होता था, इस परिभाषा सूत्र से यहां भी हो गया। अन्तवत्—जैसे—घटाभ्याम्, पटाभ्याम्। यहां अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है[4], आभ्याम्—यहां केवल अकार के होने से दीर्घ नहीं प्राप्त था, अन्तवत् मान के हो जाता है।

८०—आद्यन्तौ टकितौ ॥ १ । १ । ६० ॥

जो टकार और ककार अनुबन्धवाले आगम हों वे आदि [और] अन्त में यथासङ्ख्य करके हो जावें। अर्थात् टित् आगम जिसको कहा हो उसी के आदि में और कित् जिसको विधान किया हो उसको अन्त में हो जावे। जैसे टित्—पुरुषाणाम्। यहां नुट्[5] आम् के आदि में, अभवत्—यहां अट्[6] का आगम धातु के आदि में, भविता—यहां इट् का आगम[7] प्रत्यय के आदि में हुआ है।

१. यस्मात् परमस्ति पूर्वं नास्ति स आदिरित्युच्यते। महाभाष्य १।१।३५॥
२. यस्मात् पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते। महाभाष्य १।१।३५॥
३ आ० ४७। ४ सुपि च (ना० २६) सूत्र से। ५ ह्रस्वनद्यापो नुट् (ना० ३२) सूत्र से। ६ लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (आ० ७५) सूत्र से। ७ आर्धधातुकस्येड् वलादेः (आ० ४७) सूत्र से।

कित्-सोमसुत्, जटिलो भीपयतं। यहां तुक्[1] और पुक्[2] आगम भी धातु के अन्त में हुए हैं इत्यादि।

८१—मिदचोऽन्त्यात्परः ॥ १ । १ । ६१ ॥

जो मित् आगम वा प्रत्यय है वह अन्त्य अच् से परे होता है। जैसे-नुम्-निन्दति, नन्दति[3]। श्नम्-रुणद्धि[4]। मुम्-वाचंयमः[5]। नुम्-कुलानि, यशांसि[6] इत्यादि।

८२—एच इग्घ्रस्वादेशे ॥ १ । १ । ६२ ॥

जहां-जहां एच् के स्थान में ह्रस्व आदेश विधान करें वहां-वहां इक् ही ह्रस्व हो जावे। जैसे-गो-चित्रगुः, शबलगुः। यहां ओकार के स्थान में उकार, रै—अतिरि—यहां ऐकार के स्थान में इकार और नौ—अधिनु—यहां औकार के स्थान में उकार आदेश होता है[7] इत्यादि।

८३—षष्ठी स्थानेयोगा ॥ १ । १ । ६३ ॥

जो-जो इस व्याकरणशास्त्र में अनियतयोगा षष्ठी (अर्थात् जिसका नियम नहीं किया कि इस षष्ठी का योग इससे हो) है वह-वह स्थानेयोगा समझनी चाहिये अर्थात् स्थान में उसका योग होवे। जैसे – 'अलोऽन्त्यस्य'[8] यहां 'अलः, अन्त्यस्य' ये दोनों षष्ठी हैं, सो अनियतयोगा होने से स्थानेयोगा समझी जाती हैं। जैसे—

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (आ० ६ । १ । ७०) सूत्र से।
२. भियो हेतुभये षुक् (आ० ४९०) सूत्र से। ३. इदितो नुम् धातोः (आ० १२७) सूत्र से। ४. रुधादिभ्यः श्नम् (आ० ४३५) सूत्र से। ५. वाचंयमपुरन्दरौ (आ० १०६६) सूत्र से। ६. नपुंसकस्य झलचः (ना० ४३) सूत्र से। ७. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (ना० ४७) सूत्र से। ८. सन्धि० ८६।

'इको गुणवृद्धी'[1] 'इक' यह षष्ठी है इक् के स्थान में गुण वृद्धि होवें। स्थान शब्द का लाभ इसी परिभाषा से सर्वत्र होता है, और जहां जहां षष्ठी का नियम विदित होता है कि इस षष्ठी का याग यहां हो, वहां-वहां स्थान शब्द की उपस्थिति नहीं होता। जैसे—'शास इदङ्हलो'[2] यहां शास धातु की उपधा को इत् आदेश है [अर्थात् 'शास' यह अवयव षष्ठी है] इत्यादि।

८४—स्थानेऽन्तरतमः ॥ १ । १ । ६४ ॥

जो जो आदेश जिस जिस के स्थान में प्राप्त हो वह-वह अन्तरतम अर्थात् सदृशतम हो। अन्तरतम उसको कहते हैं कि-जो अत्यन्त सदृश हो। जो किसी के स्थान में होता है वही आदेश कहाता है, सो स्थान शब्द का लाभ तो पूर्व परिभाषा से हुआ, परन्तु जो स्थान में प्राप्त आदेश है वह कैसा होना चाहिये सो नियम इस परिभाषा से करते हैं। सादृश्य चार प्रकार का होता है, तद्यथा-स्थानकृतम्, अर्थकृतम्, प्रमाणकृतम्, गुणकृतञ्चेति। स्थानकृत अन्तरतम उसको कहते हैं कि जो जो कण्ठ आदि स्थान आदेशी का हो वही आदेश का भी होना अवश्य है। जैसे—दण्ड+अमम्=दण्डामम्। यहां पूर्व पर कण्ठस्थानी दो अकारों के स्थान में दीर्घ एकादेश कहा है,[3] सो स्थानकृत आन्तर्य मान के कण्ठस्थानवाले दोनों अकारों के स्थान में कण्ठस्थानवाला ही दीर्घ आकार होता है, भिन्न स्थान होने से ईकार, ऊकार नहीं होते। अर्थकृत आन्तर्य उसको कहते हैं कि जहां जैसा एक, दो और बहुत अर्थों का बोधक स्थानी हो वहां वैसा ही आदेश भी होना चाहिये, स्थान सदृश हो वा नहीं हो। जैसे—'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः'[4] भवताम्। यहां "तस" प्रत्यय दो अर्थों का बोधक स्थानी है उसके

1 सन्धि॰ ७८। 2 आ॰ १७११ 3. सन्धि॰ १३०। 4. आ॰ ७०।

स्थान में 'ताम्' आदेश भी दो अर्थों का बोधक ही होता है। इसी प्रकार 'थस्' आदि के स्थान में भी समझना चाहिये। प्रमाणकृत सादृश्य वह कहाता है कि जो एकमात्रिक स्थानी हो तो उसके स्थान में एकमात्रिक का ही आदेश आ हावे और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक आदेश होना अवश्य है इत्यादि। जैसे–अमुष्मै, अमूभ्याम। यहां एकमात्रिक स्थानी है उसके स्थान में एकमात्रिक और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक ही आदेश होता है[1]। गुणकृत आन्तर्य उसको कहते हैं कि जो अल्पप्राण स्थानी हो तो उस के स्थान में अल्पप्राणवाला आदेश, और महाप्राण स्थानी हो तो महाप्राणवाला ही आदेश होवे। जैसे–वाग्घसति, त्रिष्टुब्भसति। यहां हकार के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश की प्राप्ति[2] में जैसा हकार नादवान् और महाप्राण गुणवाला है उसके स्थान में आदेश भी वैसा ही होना चाहिये। सो ये दोनों गुण वर्गों के चतुर्थ वर्णों में हैं इस कारण गुणकृत आन्तर्यमान के घकार और भकार ही होते हैं इत्यादि।

प्र०–भा०–स्थान इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम् ? ॥ १ । १ । ६४ ॥

पूर्व सूत्र से स्थान की अनुवृत्ति आजाती फिर स्थानग्रहण का प्रयोजन क्या है ?।

उ०–यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात् ॥ १ । १ । ६४ ॥

जहां अनेक प्रकार के अर्थात् स्थानकृत आदि दो तीन वा चारों

---

१ 'अद+स्मै' में एक मात्रिक और 'अमा+भ्याम्' में द्विमात्रिक को 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (ना० १८८) से क्रमशः 'उ' और 'ऊ' होता है।

२. झयो होऽन्यतरस्याम् (सन्धि० २३९) सूत्र से।

आन्तर्य मिलते हों वहां स्थानकृत जो आन्तर्य है अत्यन्त बलवान् होने से वहां प्रवृत्त किया जाता है। जैसे–चेता, स्तोता। यहां एकमात्रिक इकार उकार के स्थान में प्रमाणकृत आन्तर्य को मानकर अकार गुण पाता है सो न हो, स्थानकृत आन्तर्य से तालु और ओष्ठस्थानवाले एकार और ओकार हो जाते हैं, यह द्वितीय स्थानग्रहण का प्रयोजन है। और यहां 'तम' ग्रहण इसलिये है कि "वाग्घसति" यहां महाप्राण हकार के स्थान में महाप्राण आदेश किया चाहें तो द्वितीय खकार प्राप्त है, और जो नादवान् किया चाहें तो तृतीय गकार प्राप्त होता है, तमग्रहण के होने से वर्गों का 'घ' आदि चौथा वर्ण [जो] महाप्राण और नादगुण वाला है वह होता है।

८५—उरण् रपरः ॥ १ । १ । ६५ ॥

जहां ऋ के स्थान में अण् का प्रसङ्ग अर्थात् अण् करने लगें [तो] तत्काल ही रपर हो, अर्थात् उस अण् से परे रेफ भी हो जावे[1]। जैसे–कर्ता, हर्ता। यहां ऋ के स्थान में अकार गुण हुआ है[2] इसी से अण् से परे रेफ भी हो जाता है। किरिः, गिरिः। यहां जो 'कृ' और 'गृ' धातु के स्थान में इकारादेश किया है[3] वह रपर हो गया है। और 'द्वैमातुरः' यहां उकार भी रपर हुआ है[4]। यहां 'उः'

---

१. तत्काल रपर करने का प्रयोजन यह है कि पहले अण् को रपर कर के पश्चात् अन्तरतमत्व का निर्धारण हो। अन्यथा ऋ को गुण प्रसङ्ग में 'अ, ए, ओ' इन में से कोई भी आदेश नहीं होगा, क्योंकि किसी का सादृश्य नहीं मिलता। 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र की प्रवृत्ति से पहिले रपर कर देने से 'अर्' में रेफ और ऋकार का स्थान मिल जाता है। २. सार्वधातुकार्धधातुकयोः (आ० २१) सूत्र से। ३. ऋत इद्धातोः (आ०२६५) सूत्र से। ४. मातुरुत् संख्यासंभद्रपूर्वायाः (स्त्रै० ११२) सूत्र से।

ग्रहण इसलिये है कि 'अवदातं मुखम्' यहां दैप् धातु के ऐकार के स्थान में आकार हुआ है[1] सो रपर न हो जावे। 'अण्' ग्रहण इसलिये है कि 'सौधातकिः' यहां ऋकार के स्थान में अनङ् आदेश होता है[2] सो रपर न होवे।

८६—अलोऽन्त्यस्य ॥ १ । १ । ६६ ॥

जहां-जहां षष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में आदेश कहें वहां-वहां [उस] के अन्त्य अल् के स्थान में होवें। जब 'त्यदादीनामः'[3] [सूत्र से] विभक्ति के परे त्यदादि शब्दों के स्थान में अकारादेश होवे ऐसा कहें, तब इसी परिभाषा की प्रवृत्ति होवे कि जो अन्त्य वर्ण दकार है उसके स्थान में अकारादेश हो जाता है। जैसे—स्यः, सः, यः, इदम्,[4] इत्यादि।

८७—ङिच्च ॥ १ । १ । ६७ ॥

जो ङित् अर्थात् जिसका ङकार इत् जाय ऐसा अनेकाल् भी आदेश अन्त्य अल् के स्थान में हो। यहां पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति आती है। जैसे—अनङ्—होतापोतारौ, मातापितरौ। यहां अनङ् आदेश[5] अन्त्य अल् ऋकार के स्थान में होता है। यह सूत्र (८९) सूत्र का अपवाद है।

(प्र०) तातङ् आदेश [ङित् होने से] अन्त्य अल् के स्थान में प्राप्त है सो क्यों नहीं होता?

(उ०) भा०—एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति, न तात-

---

१. आदेच उपदेशेऽशिति (धा० २४२) सूत्र से। २. सुधातुरकङ् च (औ० १०३) सूत्रसे। ३. षा० १०६। ४. इदमो मः (षा० १७१) सूत्र से अन्त्य मकार के स्थान में मकार होता है। ५. ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च (षा० ९६) सूत्र से।

अन्त्यस्य स्थाने भवतीति–यदेतं ङितं करोति। इतरथा हि लोट एरुप्रकरण एव ब्रूयात् तिह्योस्ता-दाशिष्यन्यतरस्यामिति ॥ महा० १ । १ । ६७ ॥

यह इसी सूत्र पर महाभाष्यकार ने समाधान किया है कि जिस कारण तातङ् आदेश ङित् किया है इसी से आचार्य की शैली स्पष्ट विदित होती है कि यह अन्त्य अल् के स्थान में नहीं होता। जो अन्त्य अल् के स्थान में करना होता तो तृतीयाऽध्याय के चतुर्थपाद में 'लोटो लङ्वत्, एरुः'[1] इन सूत्रों के आगे 'तात्' आदेश कहते। इस में लाघव भी बहुत आता था। जो लोट लकार का 'ति' और 'हि' का इकार उसको तात् आदेश विकल्प करके होवे, ऐसा कहने से अन्त्य अल् इकार के स्थान में हो ही जाता, फिर 'अङ' मात्र के अधिक पढ़ने और सप्तमाध्याय के प्रथमपाद में तातङ् आदेश के कहने से ठीक जाना जाता है कि तातङ् आदेश में ङित्करण [अन्त्यादेश के लिये नहीं है,] गुण वृद्धि प्रतिषेध आदि के लिये है, इस कारण अन्त्य अल् के स्थान में नहीं होता।

८८—आदेः परस्य ॥ १ । १ । ६८ ॥

जो पर अर्थात् उत्तर को कार्य कहें वह [उस के] आदि अल् के स्थान में समझना चाहिये। यह सूत्र 'तस्मादित्युत्तरस्य'[2] इस सूत्र का शेष है, यहां पढ़ने का प्रयोजन यह है कि अल् की अनुवृत्ति इसमें आ जावे, अन्यत्र पढ़ने से फिर अल् ग्रहण करना होता। जैसे–आसीनोऽधीते। यहां आस धातु से उत्तर आन को ईकारादेश कहा है[3], सो उसके आदि अल् अकार के स्थान में हो जाता है।

१. क्रमशः, भा० ९८, ९९। २. सन्धि० १००। ३. ईदासः। भा० १२५०।

द्वीपम्। यहां द्वि शब्द से परे अप् शब्द को ईकारादेश कहा है[1] सो उसके आदि अल् अकार के स्थान में हो जाता है।

८६—अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥ १।१।५६ ॥

जो अनेकाल् और शित् आदेश हो वह सम्पूर्ण के स्थान में हो जावे। अनेकाल् जिसमें अनेक वर्ण हों, शित् अर्थात् जिसका शकार इत् जाय। जैसे—अस्तेर्भूः[2]। यहां अस् धातु के स्थान में भू आदेश अनेकाल् होने से सब के स्थान में हो जाता है। भविष्यति, भविष्यम्, इत्यादि। शित्—इदम् इश्[3]। विभक्ति के परे इदम् शब्द के स्थान में इश् आदेश होता है, सो शित् होने से सब के स्थान में हो जाता है। इतः, इह इत्यादि।

९०—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ १।१।५६ ॥

जो आदेश है वह स्थानी के तुल्य होवे अर्थात् जो काम स्थानी से सिद्ध होता है वही आदेश से भी होवे, परन्तु जो अलाश्रयविधि कर्तव्य हो तो आदेश स्थानिवत् न हो। स्थानी उसको कहते हैं कि जो प्रथम तो हो [और] पीछे न रहे, और आदेश उसको कहते हैं कि जो प्रथम न हो और पीछे हो जावे। जो एक के तुल्य दूसरे को मानकर कोई काम करना है उसको अतिदेश कहते हैं। स्थानी और आदेश के पृथक्-पृथक् होने से स्थानी का कार्य आदेश से नहीं निकल सकता, इसलिये आदेश को स्थानिवत् अतिदेश करते हैं। जैसे—राजा। यहां विभक्ति लोप होने पर भी पदसंज्ञा रहती है[4], इत्यादि। आवधिषीष्ट। यहां हन धातु के स्थान में वध आदेश हुआ

१. द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्। सा० ३५२।   २. सा० ३५३।
३. सौ० ७३५। ४. विभक्तिलोप—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (ना० ४८) सूत्र से। पदसंज्ञा—सुप्तिङन्तं पदम् (ना० ११) सूत्र से।

स्थान में इकार संप्रसारण हुआ है,[1] सो जो स्थानिवत् माना जाय तो 'हलि च'[2] इस सूत्र से दीर्घ प्राप्त है, सो नहीं होता। अल् करके जो विधि वहां स्थानिवत् न हो—व्यूढोरस्केन, महोरस्केन। यहां विसर्जनीय के स्थान में सकारादेश हुआ है,[3] उसको यदि स्थानिवत् मानें तो विसर्जनीय जो अयोगवाहों में प्रसिद्ध है उसका अट् प्रत्याहार में पाठ मानकर[4] नकार को णकारादेश प्राप्त है[5] सो नहीं होता, इत्यादि इस सूत्र का महान् विषय है, विशेष महाभाष्य में देख लेना।

६१—अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥ १ । १ । ७१ ॥

जिस अच् के स्थान में आदेश होनेवाला हो उसके परे पूर्व को विधि करना हो तो अच् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिवत् होजावे। जिसलिये पूर्व सूत्र मे अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया और उसी विषय में इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान है इसलिये यह सूत्र उसका अपवाद है। जैसे—पटयति। यहां पटु शब्द से णिच् प्रत्यय के परे उसके उकार का लोप हुआ है, उस उकार को इस सूत्र से स्थानिवत् मानने से वृद्धि नहीं होती।[6] यहां 'अच्'

---

१. वचिस्वपियजादीनां किति (आ० २८३) सूत्र से। २. सन्धि० २५४। ३. विसर्जनीयस्य सः (सन्धि० २६०) सूत्र से। ४. अयोगवाहानामट्सु णत्वम्। महा० अ० १, पा० १, आ० २। ५. अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (ना० २५) सूत्र से। ६. 'पटुं करोति' इस अर्थ में 'तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम्' (आ० ६१२) से णिच्, 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' (आ० ६११) से इष्ठवद्भाव होकर 'टेः' (स्त्रै० ८८९) से टिलोप 'पट्+इ' इस अवस्था में 'अत उपधायाः' (आ० १२६) से उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त होती है वह उकार लोप को स्थानिवत् मानने से नहीं होती, क्योंकि स्थानिवत् होने पर उपधा में अकार नहीं रहता।

ग्रहण इसलिये है कि हल् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिवत् न हो। जैसे—आगत्य। जो यहां मकार का लोप हुआ है[1] उसको स्थानिवत् मानें तो तुक् का आगम[2] नहीं पावे। 'परस्मिन्' ग्रहण इसलिये है कि जहां परनिमित्तक अच् का आदेश न हो वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—आदीध्ये। यहां जो इट् प्रत्यय को एकारादेश होता है[3] वह परनिमित्त नहीं है उसको यदि स्थानिवत् मानें तो दीधी धातु के ईकार का लोप 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः'[4] से होजावे, सो नहीं होता। 'पूर्वविधि' ग्रहण इसलिये है कि जहां परविधि कर्तव्य हो वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—नैधेय। यहां जब डुधाञ् धातु के आकार का लोप कित् प्रत्यय के परे होता है[5] तब निधि शब्द बनता है, उस आकार को यदि स्थानिवत् मानें तो द्व्यच् प्रातिपदिकाश्रित जो ढक् प्रत्यय[6] होता है वह नहीं हो सके। परविधि यही है कि प्रातिपदिक से परे प्रत्यय होते हैं।

९२—न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥ १ । १ । ७२ ॥

पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ जश्, चर् इन विधियों के करने में जो पर को निमित्त मान के आदेश होता है वह स्थानिवत् न होवे। जो पूर्व सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान किया है उसी का नियत स्थानों में यह सूत्र निषेध करता है। जैसे—पदान्तविधि—कौ स्तः। यहां अस् धातु के अकार का लोप पर को मानकर हुआ है[7] उसको स्थानिवत् मान के जो

१. गम॰ क्वौ (आ॰ ११२५) सूत्र से। २. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (सन्धि ०२०६) सूत्र से। ३. टित आत्मनेपदानां टेरे (आ॰ ९८) सूत्र से। ४. आ॰ ३०३। ५. आतो लोप इटि च (आ॰ २४४) सूत्र से। ६. द्व्यचः (स्त्रै॰ २०१) सूत्र से। ७. श्नसोरल्लोपः (आ॰ ३५२) सूत्र से।

आय् आदेश प्राप्त है,[1] सो नहीं होता। द्विर्वचनविधि—दद्ध्यत्र। यहां इकार को यणादेश पर को मानकर हुआ है,[2] उसके स्थानिवत् होने से धकार को द्विर्वचन[3] नहीं पाता इसलिये द्विर्वचनविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है। वरे विधि-अर्थात् जो वरच् प्रत्यय के परे लोप होता है वहां स्थानिवद्भाव न होवे। जैसे—यायावरः। जो यहां अकार का लोप परनिमित्त हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से आकार का लोप प्राप्त है,[4] सो न हुआ। यलोपविधि—कण्डूयक-ण्डूतिः। यहां यक् प्रत्यय के अकार का लोप पर को मानकर हुआ है,[5] उसके स्थानिवत् होने से यकार का लोप[6] नहीं पाता था। स्वरविधि—चिकीर्षकः। यहां ण्वुल् प्रत्यय के परे चिकीर्ष धातु के अकार का लोप होता है,[7] उसके स्थानिवत् मानने से लित् प्रत्यय

---

१. एचोऽयवायावः (सन्धि० १८०) सूत्र से। २. इको यणचि (सन्धि० १७९) सूत्र से। ३. अनचि च (सन्धि० २१२) सूत्र से हल् परे रहने पर द्विर्वचन होता है। ४. या+यङ्=यायाय, इस अवस्था में 'यश्च यङः' (आ० १३१२) से वरच् प्रत्यय हुआ। उस के परे 'अतो लोपः' (आ० १७२) से अकार लोप और 'लोपो व्योर्वलि' (अष्टा० ६। १। ६६) से यकारलोप होकर 'याया+वर' इस अवस्था में यङ् के अकार को स्थानिवत् मान के 'आतो लोप इटि च' (आ० २४४) से आकार का लोप प्राप्त होता है। ५. कण्डू—कण्ड्वादिभ्यो यक् (आ० ६१८) से यक्, 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (आ० १५१८) से क्तिच्—कण्डू+य+ति। उस के परे 'अतो लोपः' (आ० १७२) से अकार लोप होता है। ६. कण्डू+य्+ति इस अवस्था में 'लोपो व्योर्वलि' (अष्टा० ६। १। ६६) सूत्र से होने वाला यलोप। ७. अतो लोपः (आ० १७२) सूत्र से।

से पूर्व 'की' में उदात्त स्वर[1] इष्ट है वह नहीं हो सकता,[2] सो हो गया। सवर्णविधि–कन्धः। यहां श्नम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है,[3] उसके स्थानिवत् होने से धकार के परे अनुस्वार को परसवर्ण[4] अर्थात् नकारादेश नहीं पाता था, सो हुआ। अनुस्वारविधि–शिंषन्ति। यहां श्नम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है,[5] उसके स्थानिवत् होने से नकार को अनुस्वार नहीं प्राप्त होता था,[6] सो हो गया। दीर्घविधि–प्रतिदीव्ना। यहां प्रतिदिवन् शब्द के अकार का लोप हुआ है,[7] उसके स्थानिवत् होने से दीर्घ[8] नहीं पाता था, सो हो गया। जश्विधि–सग्धिः। यहां घस् धातु के अकार का लोप हुआ है,[9] उसके स्थानिवत् होने से क्तिन् प्रत्यय

---

१. लिति (सौ० ४९) सूत्र से प्राप्त। २. 'चिकीर्ष+अक' इस अवस्था में यदि अकारलोप स्थानिवत् माना जाय तो 'की' ण्वुल् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व नहीं रहता, बीच में अकार का व्यवधान हो जाता है। ३. श्नसोरल्लोप (आ० ३५२) सूत्र से। ४ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (सन्धि० १९७) सूत्र से। क्योंकि अकारलोप के स्थानिवत् होने से यय् परे नहीं रहता, अकार का व्यवधान हो जाता है। ५. श्नसोरल्लोप (आ० २५२) सूत्र से। ६ नश्चापदान्तस्य झलि (सन्धि० १९२) सूत्र से झल् परे अनुस्वार होता है। अकारलोप के स्थानिवत् होने से झल् परे नहीं रहता। ७. अल्लोपोऽनः (ना० ७२) सूत्र से। ८. हलि च (ना० १४०) सूत्र से हल् परे रहने पर दीर्घ होता है, अकारलोप के स्थानिवत् होने से हल् परे नहीं रहता। ९ समान+घस्+क्तिन्। घसिभसोर्हलि च (आ० ३९३) से अकार लोप, 'झलो झलि' (आ० १४२) से सकार लोप होकर 'समान्+घ्+ति'।

के तकार को धकार[1] नहीं पाता था, सो होगया। चर्विधि–जक्षतुः। यहां भी घस् धातु के अकार का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से घकार का ककारादेश[2] नहीं प्राप्त होता था, सो होगया।

६३—वा०—प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्॥ महा० १।१।७२॥

जो सूत्र से पदान्त आदि विधियों में निषेध किया है वह इस प्रकार से होना चाहिये कि स्वर, दीर्घ और यलोपविधि के करने में अच् के स्थान में जो लोपरूप आदेश है वही स्थानिवत् न हो, अन्य आदेश तो स्थानिवत् हो ही जावे। जैसे–स्वरविधि–पञ्चारत्न्यः। यहां इकार के स्थान में यणादेश हुआ है[3] उसके स्थानिवत् होने से [अर्थात् इगन्त मानकर] 'इगन्तकालकपाल०[4]' इस सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है। दीर्घविधि–किर्यौः। यहां किरि शब्द के इकार के स्थान में यणादेश होगया है[5], उसके स्थानिवत् होने से

१. झषस्तथोर्धोऽधः (आ० १४१) से झष् से उत्तर तकार को धकार होता है। अकार के स्थानिवत् होने से फिर तकार झष् से उत्तर नहीं रहता, बीच में अकार का व्यवधान हो जाता है। 'समानस्य छन्दस्यमूर्ध०' (सा० २२१) सूत्र से समान के स्थान में सकार आदेश होता है। २ 'घस्+अतुस्' इस अवस्था में 'गमहनजनखनघसां०' (आ० २१४) से अकारलोप, द्विर्वचन—'जघ्स्+अतुस्'। 'खरि च' (सन्धि० २३५) से खर् परे रहने पर घ् को क् होता है। यदि अकारलोप स्थानिवत् हो जावे तो चर् आदेश नहीं हो सकता। ३. पञ्चारत्नी+जस्=पञ्चारत्नी+अस्, इस अवस्था में 'इको यणचि' (सन्धि० १७९) से यणादेश होता है। ४. अष्टा० ६।२।२९॥ ५. इको यणचि (सन्धि० १७९) सूत्र से।

दीर्घ[1] नहीं होता। यलोपविधि-वाध्वोः । यहां वकार के स्थान में यकार हुआ है,[2] उसके स्थानिवत् होने से यकार का लोप[3] नहीं होता।

६४—वा० –क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् । महा० १ । १ । ७२ ॥

यह दूसरा वार्तिक सूत्र के विषयों से अलग स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। क्वौ लुप्ते न स्थानिवत्–जहां क्विप् प्रत्यय के परे किसी का लोप हुआ हो वहां स्थानिवद्भाव न हो। [जैसे—] लौ । यहां क्विप् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से वकार को ऊठ् आदेश होता है[4]। लुकि न स्थानिवत्–लुक् होने में स्थानिवद्भाव न हो। [जैसे—] पञ्चपटु । यहां तद्धित प्रत्यय का लुक् होने से ङीप् प्रत्यय के ईकार का लुक् हुआ है। उसके स्थानिवत् नहीं होने से पटु शब्द को यणादेश नहीं होता[5]। उपधात्वे न स्थानिवत्। उपधा का कार्य करने में स्था·

१. हलि च (ना० १४०) सूत्र से प्राप्त होने वाला दीर्घत्व।
२. इको यणचि (सन्धि०१०९) सूत्र से। ३ लोपो व्योर्वलि (अ० ६ । १ । ६६) सूत्र से प्राप्त होनेवाला यकार लोप। ४ लूञ्+णिच्+क्विप् = 'लाव् इ क्विप्'–इस अवस्था में 'णेरनिटि' (आ० १७७) से णिलोप होता है। यदि यह स्थानिवत् हो जावे तो इकार के व्यवधान होने से 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (आ० ४५४) से प्राप्त ऊठ् न हो।
५ पञ्चभिः पट्वीभिः क्रीतः = 'पञ्चन् भिस्+पटु ङीप् भिस्' इस अवस्था में 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (सा० १३१) से समास होकर 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' (अष्टा० ५ । १ । २८) से क्रीत अर्थ से उत्पन्न तद्धित प्रत्यय का लुक् होता है, उस के पश्चात् 'लुक् तद्धितलुकि' (अ० १ । २।४९)से ङीप् का लुक् हो जाता है। यदि ङीप् को स्थानिवत् हो तो पटु के उकार को 'इको यणचि' (सन्धि० १०९) से यणादेश प्राप्त होता है।

निवद्भाव न हो। [जैसे—] पारिखीय[1]। यहां परिखा शब्द से चातुरर्थिक अण् प्रत्यय के परे आकार के स्थानिवत् नहीं होने से पारिख शब्द से खोपध छ प्रत्यय हो जाता है[1]। चङ्परनिर्ह्रासे न स्थानिवत्—जहां चङ् प्रत्यय के परे ह्रस्व का विधान हो वहां स्थानिवत् न हो। जैसे—अवीवदत्। यहां णिच् के परे णिच् का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से उपधा को ह्रस्व हो जाता है[2]। कुत्वे न स्थानिवत्—कुत्वविधि करने में स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—अर्कः। यहां अर्च धातु से घञ् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् नहीं होने से चकार को,[3]

ककारादेश हो जाता है[1]।

६५—वा-पूर्वत्राऽसिद्धे च ॥ महा० १ । १ । ७२ ॥

इस तीसरे वार्तिक से अष्टाध्यायी के अन्त्य के तीन पादों के कार्य करने में स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—यायष्टिः। यहां यङ् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है, उसके स्थानिवत् होने से यज धातु में जकार को षकारादेश नहीं प्राप्त होता था,[2] इत्यादि।

६६—द्विर्वचनेऽचि ॥ १ । १ । ७३ ॥

द्विर्वचननिमित्तक अजादि प्रत्यय परे हो तो द्विर्वचन करने के लिये अच् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिरूप ही हो जावे। इस सूत्र में स्थानिरूद्भाव का विधान है, अर्थात् निषेध की अनुवृत्ति नहीं आती। इसी से यह भी अतिदेश हुआ। अतिदेश दो प्रकार के होते हैं—एक कार्यातिदेश और रूपातिदेश। कार्यातिदेश वह होता है कि जो आदेश को स्थानी के सदृश मानकर स्थानी का काम आदेश से ले लेना। और रूपातिदेश उसको कहते हैं कि स्थानी अपने स्थान में स्वयं आजावे, क्योंकि जहां स्थानी के समान आदेश को मानने से काम नहीं चलता, वहां रूपातिदेश माना जाता है। सो इस सूत्र में रूपातिदेश है। जैसे—पपतुः।

---

१. अर्क+णिच्+घञ्—इस अवस्था में 'णेरनिटि' (आ० १७७) से णिलोप और 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (आ० ९४४) से घित् परे रहने पर कुत्व होता है। यदि णिलोप स्थानिवत् हो तो उसका व्यवधान होने से कुत्व नहीं हो सकता। २ यज्+यङ्= यायज्+य+क्तिन्—इस अवस्था में 'अतो लोपः' (आ० १७२) से अकार लोप और 'लोपो व्योर्वलि' (अष्टा० ६ । १ । ६६) से यकारलोप होता है। यदि अकार लोप स्थानिवत् हो तो 'व्रश्चभ्रस्ज०' (आ० २३३) से झल्परे होने वाला षकारादेश न हो।

यहां अतुस प्रत्यय के परे धातु के आकार का लोप हुआ है,[1] उसके स्थानिवत् होने से ही द्विर्वचन हो सकता है[2]। यहां 'द्विर्वचन' ग्रहण इसलिये है कि 'गोदः' यहां आकार का लोप अजादि प्रत्यय के परे हुआ है, परन्तु द्विर्वचननिमित्तक प्रत्यय नहीं [है] इससे स्थानिवद्भाव नहीं होता। और 'अच्' ग्रहण इस लिये है कि 'देध्मीयते' यहां अजादि प्रत्यय परे नहीं [है] इससे स्थानिवत् नहीं होता।

६७--प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥ १। १।७६॥

जहां प्रत्यय का लोप हो जावे, वहां उस प्रत्यय को मानकर कोई कार्य प्राप्त होवे तो हो जाय। जैसे-अग्निचित्। यहां लोप के बलवान् होने[3] से क्विप् प्रत्यय का लोप प्रथम ही हो जाता है, पीछे उसको मान कर तुक् का आगम[4] होता है। इस सूत्र में 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि जहां सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप हो वहीं प्रत्यय निमित्तक कार्य हो और जहां प्रत्यय के अवयव का लोप हो वहां न हो। जैसे-आघ्नीत। यहां प्रत्यय के अवयव सकार का लोप हुआ है सो जो प्रत्यय लक्षण होवे तो हन् धातु की उपधा का लोप नहीं प्राप्त होवे[5]। दूसरा 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि

---

१. आतो लोप इटि च (आ० २४४) सूत्र से। २. लिटि धातोरनभ्यासस्य (आ० २८) सूत्र में 'एकाचः' की अनुवृत्ति है, अतः एकाच् होने पर ही द्विर्वचन हो सकता है। आकार लोप हो जाने पर एकाच्त्व का अभाव हो जाता है। ३. सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान् (पारि० ९९) इस नियम से। ४. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (सन्धि २०६) सूत्र से। ५. 'आ+हन्+सीयुट्+त' इस अवस्था में 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (आ० ८०) से सकार लोप होता है। 'गमहनजन०' (आ० २१४) से अजादि क्ङित् प्रत्यय परे उपधा का लोप होता

प्रत्यय के लोप में [प्रत्यय को मानकर होने वाला कार्य ही हो] वर्णाश्रय कार्य प्राप्त होता हो सो न हो। जैसे-रायः कुलम् = रैकुलम्। यहां प्रत्यय के लोप में एच् प्रत्याहार के आश्रय ऐकार को आय् आदेश प्राप्त है [1] सो नहीं हुआ।

९८—न लुमताङ्गस्य ॥ १ । १ । ७७ ॥

जहां लुक्, श्लु और लुप् इन शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन हुआ हो वहां उस प्रत्यय के परे जिसकी अङ्ग संज्ञा हो उसको प्रत्ययलक्षण मानकर कार्य न हो। पूर्वसूत्र में जो प्रत्ययलक्षण कार्य सामान्य से कहा है उसका इस सूत्र से विशेष विषय में निषेध करते हैं। जैसे-गर्गाः। यहां यञ् प्रत्यय को मानकर वृद्धि और आद्युदात्त स्वर प्राप्त है [2] सो नहीं होते। इस सूत्र में 'लुमता' ग्रहण इसलिये है कि 'धार्यते' यहां णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है [3] इससे प्रत्ययनिमित्तक कार्य जो वृद्धि है उसका निषेध नहीं होता।

९९—तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥१।१।८०॥

जो शब्द सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट = पढ़ा हो उससे जो पूर्व शब्द वा वर्ण हो उसी को कार्य हो, अर्थात् उससे परे और व्यवधानवाले को न होवे। इस सूत्र में इति शब्द अर्थ का बोध

है। यदि सलिुट् को हलादि माना जाय तो उपधा लोप न हो।

१, एचोऽयवायावः (सन्धि० १८०) सूत्र से। २, गर्ग के बहुत अपत्य इस अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ्' (स्त्रै० १८२) से यञ् प्रत्यय, और 'यञञोश्च' (अ० २। ४। ६४) से यञ् का लुक्। यञ् को प्रत्ययलक्षण मान कर 'तद्धितेष्वचामादेः' (स्त्रै० ९१४) वृद्धि और 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (सौ० २९) से आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होती है। ३, णेरनिटि (आ० १७७) से णि लोप होता है, उस को प्रत्यय लक्षण मानकर 'अचोऽञ्णिति' (आ० ६०) से वृद्धि होती है।

होने के लिये पढ़ा है, अन्यथा 'तस्मिन्' यही शब्द जहां पढ़ते वहीं पूर्व का कार्य होता। जैसे—दधि-अत्र। यहां अकार सप्तमीनिर्दिष्ट है, उससे पूर्व जो इकार है उसी को कार्य होता है। इसमें 'निर्दिष्ट' ग्रहण इसलिये है कि व्यवधान में यणादेश न हो। जैसे— समिधः। यहां धकार [के] व्यवधान में यण नहीं होता।

१००—तस्मादित्युत्तरस्य ॥ १ । १ । ८१ ॥

जो पञ्चमी विभक्ति से निर्देश किया कार्य है वह व्यवधान-रहित पर के स्थान में हो। पूर्वसूत्र से यहां निर्दिष्टशब्द की अनुवृत्ति आती है। 'इति' शब्द यहां भी पूर्वोक्त प्रयोजन के लिये है। जैसे— द्वीपम्। यहां 'द्वि' शब्द से पर अप् शब्द को ईकारादेश होता है[२]। इस सूत्र में निर्दिष्टग्रहण का प्रयोजन यह है कि अत्यन्त समीपवाले को कार्य हो। अन्तर्दधाना आप—यहां अप् शब्द को ईकारादेश न होवे[३]। 'आदेः परस्य[४]' यह सूत्र लिख चुके हैं सो इसी का शेष है।

१०१—स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥१।१।८२॥

व्याकरण शास्त्र में शब्द का जो रूप है उसी का ग्रहण होवे, शब्द शास्त्र में जो संज्ञा है उसको छोड़ के, अर्थात् उसके पर्यायवाची और विशेष वाची का ग्रहण न हो। लोक में यह परम्परा है कि शब्द के उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे किसी ने

१. इको यणचि (सन्धि० १७९) सूत्र में 'अच्' सप्तमी निर्दिष्ट है।
२. द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् (सा० ३५२) से ईकारादेश होता है।
३. यहां 'अन्तर्' और 'आप.' के मध्य 'दधाना.' का व्यवधान होने से 'द्व्यन्तरुप०' (सा० ३५२) से ईकारादेश नहीं होता।
४. सन्धि० ८७।

किसी से कहा कि गौ लाओ, तो चार पगवाली व्यक्तिविशेष को ले आता है, वैसे व्याकरण में शब्दों से कार्य कहे हैं, अर्थों से उनका होना तो कदापि सम्भव नहीं। जैसे अग्नि से कुछ कार्य कहा-तो क्या अंगारों से वह काम हो सकता है ? इसलिये अग्नि के पर्यायवाची जितने शब्द हैं उन सब से वह कार्य प्राप्त होता था, इस दोष के निवारण के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है। जैसे-गौ शब्द को कोई कार्यविधान किया है [1] वह उसके पर्यायवाची धेनु आदि शब्दों से और विशेषवाची कृष्णा आदि शब्दों से न हो। इस सूत्र में 'रूप' ग्रहण इसलिये है कि-शब्दों का सम्बन्धी जो अर्थ है उसका ग्रहण न होवे।

जो इस सूत्र पर चार वार्तिक हैं सो लिखते हैं—

१०२—वा०—सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम् ॥

महा० १।१।६२॥

सित् निर्देश करना चाहिये, अर्थात् जिन जिन शब्दों के विशेषवाची शब्दों का ग्रहण इष्ट है वहां वहां एक सकार अधिक पढ़कर एक नवीन संकेत करना चाहिये, जिससे वृक्ष आदि शब्दों के विशेषवाची शब्दों का बोध होजावे। जैसे-'विभाषा वृक्षमृग०[2]' इत्यादि एक वचन प्रकरण में सामान्यवाची वृक्ष आदि शब्दों के ग्रहण में विशेषवाची न्यग्रोध आदि का भी ग्रहण होता है। प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः, इत्यादि।

१०३—वा०—पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम्

॥ महा० १।१।६२ ॥

१. अचोऽङ्क् (अ० ४।२।३३) से ढक् प्रत्यय का विधान किया है। २. गोतो णित् (सू० १०८) से सर्वनामस्थान को णिद्वत् कहा है। ३. सा० ३११।

जिन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों और उनके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण और अपने रूप का ग्रहण इष्ट है वहां-वहां पित्संकेत करना चाहिये। जैसे-'स्वे पुषः'[1]—स्वपोषं पुष्यति। यहां अपने स्वरूप का ग्रहण है। रैपोषं पुष्यति, धनपोषं पुष्यति। यहां स्वशब्द के पर्यायवाची 'रै' आदि हैं। अश्वपोषम्, गोपोषम्। यहां अश्व आदि शब्द उसके विशेषवाची हैं।

१०४—वा०-जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ॥

महा० १।१।६२॥

जिन राजादि शब्दों के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण इष्ट है वहां-वहां जित्संकेत करना चाहिये। इस वार्त्तिक से 'सभा राजामनुष्यपूर्वा'[2] इस सूत्र में राजन् शब्द के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है। इनसभम्, ईश्वरसभम्। ये राजन् शब्द के पर्यायवाची हैं। और राजन् शब्द का ग्रहण नहीं होता—राजसभा। और राजन् शब्द के विशेषवाचियों का भी ग्रहण नहीं होता। जैसे—चन्द्रगुप्तसभा, पुष्यमित्रसभा इत्यादि।

१०५—वा०-झित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् ॥

महा० १।१।६२॥

जिन मत्स्यादि शब्दों के विशेषवाचियों और उनके स्वरूप का ग्रहण इष्ट है वहां झित्संकेत करना चाहिये। इस वार्त्तिक से 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति'[3] इस सूत्र में मत्स्य शब्द से अपने स्वरूप और उसके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण होना इष्ट है। जैसे—मत्स्यान् हन्ति मात्स्यिकः। यहां स्वरूप का ग्रहण। और उसके विशेष-

१. अ० १५७९। २. अ० २।४।२३॥ ३. सू० ४७८।

वाची—शाफरिकः, शाकुलिक, इत्यादि। पर्यायवाची अजिह्म आदि शब्दों का ग्रहण नहीं होता, परन्तु एक पर्यायवाची का भी ग्रहण इष्ट है। मीनान् हन्ति मैनिक।

१०६—अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः॥ १।१।८३॥

अण् प्रत्याहार और उदित् ये दोनों अपने सवर्णों के ग्रहण करने वाले हों, अर्थात् इनको जो कार्यविधान किया हो वह इनके सवर्णियों को भी हो, परन्तु प्रत्यय संज्ञक अण् सवर्ण का ग्राहक न हो। पूर्व सूत्र से 'स्वं रूप' इन दो शब्दों की अनुवृत्ति आती है। अण् प्रत्याहार इस सूत्र में पर णकार से लिया जाता है। और उदित् करके कु, चु, टु, तु, पु, ये पांच अक्षर लिये जाते हैं। जैसे—'अस्य च्वौ'[1] यहा अकार को कार्य कहा है सो आकार को भी होता है,[2] तथा उदित् 'चुटू'[3] यहा चवर्ग टवर्ग का 'अदकुप्वा०' यहा कु, पु शब्दों से कवर्ग पवर्ग का ग्रहण होता है। इस सूत्र में 'प्रत्यय' का निषेध इसलिये है कि—'अ,[4] उ[5] इन प्रत्ययों में दीर्घ वर्णों का ग्रहण न हो।

१०७—तपरस्तत्कालस्य॥ १।१।८४॥

जिससे तकार परे हो वा जो वर्ण तकार से परे आवे वह उतने ही काल वाले सवर्णसंज्ञक वर्ण और अपने रूप का बोधक हो, अर्थात् तपर ह्रस्व वर्ण को कार्यविधान किया हो तो दीर्घ और

१ अ० ७।४।३२॥ २ जैसे 'शुक्ली भवति' में ईकारादेश होता है वैसे-'शाङ्र्गीभवति, माली भवति' में भी हो जाता है। ३ मा० १७, आ० ९२। ४ ना० २५, आ० ८७१। ५ अ प्रत्ययात्। आ० १४६१। ६ सनाशंसभिक्ष उ। आ० १२००।

प्लुत को न हो। जैसे–'अत्'[1] यहां दीर्घ आकार का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उसके उच्चारण में द्विगुण काल लगता है। तथा जहां-जहां सूत्रों में आकार तपर[2] पढ़ा है उसका प्रयोजन यह है कि–उदात्त अनुदात्त और स्वरित का भी ग्रहण हो, क्योंकि उदात्तादिकों में कालभेद नहीं होता। ह्रस्व स्वरों में पूर्व सूत्र से सामान्य करके सवर्ण ग्रहण प्राप्त था सो इस सूत्र से ह्रस्व तपर स्वरों में अधिक कालवाले दीर्घ प्लुत का निषेध कर दिया है, तथा पूर्वसूत्र से दीर्घ स्वरों में सवर्ण ग्रहण प्राप्त नहीं था सो इस सूत्र से तत्काल के ग्रहण में उदात्तादि विशेष गुणों का भी ग्रहण हो जाता है।

१०८—येन विधिस्तदन्तस्य ॥ १ । १ । ८६ ॥

जिस विशेषण करके विधि हो वह जिसके अन्त में हो उसको कार्य हो। जैसे–'अचो यत्'[3] यहां 'अच' यह पद धातु का विशेषण होने से अन्त शब्द का लाभ करके जो अच् को कार्यविधान है सो अजन्त को होता है। भव्यम्, इत्यादि।

१०९—वा०—समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ॥

महा० १ । १ । ८६ ॥

समासविधान और प्रत्ययविधान में तदन्तविधि न हो। समासविधान में–जैसे–कष्टश्रितः। यहां तो समास होता है[4] और 'परमकष्टं श्रित' यहां तदन्त का समास नहीं होता। प्रत्ययविधि–नडस्यापत्यं नाडायनः। यहां तो प्रत्ययविधान होता है[5] और 'सूत्रनड-

१ अदेङ् गुण (सन्धि० १९) सूत्र से अकार की गुण संज्ञा होती है, आकार का नहीं। २. वृद्धिरादैच् (सन्धि० १८) आदि सूत्रों में। ३ आ० ९२१। ४. द्वितीया श्रितातीतपतितगता० (सा० ७५) सूत्र से। ५ नडादिभ्य फक् (स्त्रै० १७१) सूत्र से।

स्यापत्यं सौत्रनाडिः' यहां तदन्त से फक् प्रत्यय नहीं हुआ, इत्यादि।

११०—वा०—उगिद् वर्णग्रहणवर्जम् ॥

महा० १ । १ । ८६ ॥

पूर्व वार्तिक से जो निषेध किया है सो प्रत्ययविधि में सर्वत्र नहीं लगता, अर्थात् उगित् ग्रहण और वर्ण ग्रहण को छोड़ के [निषेध प्रवृत्त होता है]। जैसे—भवती। यहां उदित् भवत् शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है[1] तो 'अतिभवती' यहां तदन्त से भी हो जावे। वर्णग्रहण— 'अत इञ्'[2] [अस्यापत्यमि । यहां अ शब्द से इञ् प्रत्यय होता है, इस वार्तिक से] 'दाक्षिः' इत्यादि में अदन्त से भी प्रत्यय-विधान होता है।

१११—अचश्च ॥ १ । २ । २८ ॥

जहां-जहां व्याकरण शास्त्र में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत [का] विधान करें वहाँ वहां अच् ही के स्थान में हों। जैसे- ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'[3] यहां प्रातिपदिक को ह्रस्व कहा है, जैसे—रै—अतिरि। यहां ऐकार को इकार और 'अधिनु' यहां औकार को उकार होता है। यहां 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि 'सुवाग् ब्राह्मणकुलम्' इत्यादि प्रयोगों में हलन्त को ह्रस्व न हो। दीर्घ-अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'[4] स्तु, श्रु—स्तूयते, श्रूयते। यहां उकार के स्थान में ऊकार दीर्घ हुआ है। अच् का नियम इसलिये है कि 'अग्निचीऽ३त्' यहां तकार के स्थान में प्लुत ३ न हो जावे[5]। परन्तु जहां संज्ञा शब्दों से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का विधान हो वहीं अच् के स्थान में हो। यह नियम

१. उगितश्च (स्त्रै० २३) सूत्र से। २. स्त्रै० १०१। ३. ना० ४७। ४. आ० १६०। ५. दूराद्धूते च (सन्धि० २९) सूत्र से।

इसलिये है कि 'त्यदादीनामः'[1] यहां अकारादेश कहा है, और अकार की ह्रस्व संज्ञा है सो यहां अच् की अपेक्षा न हो, इत्यादि।

११२—यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ॥ १।३।१०॥

जहां-जहां बराबर संख्यावालों का कार्य में सम्बन्ध करना हो वहां-वहां यथासंख्य अर्थात् जैसा उनका क्रम पढ़ा हो वैसा ही सम्बन्ध किया जावे। जैसे—'एचोऽयवायावः'[2] यहां एच् प्रत्याहार में [ए, ओ, ऐ, औ] चार वर्ण हैं सो ही अय्, अव, आय्, आव, ये चार आदेश हैं सो प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितीय, तृतीय के स्थान में तृतीय और चतुर्थ के स्थान में चतुर्थ होते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र यह नियम जान लेना। यहां 'समानाम्' ग्रहण इसलिये है कि—'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः'[3] यहां चार अर्थ और तीन उपसर्ग हैं, इससे यथासंख्य क्रम नहीं लगता, इत्यादि।

११३—स्वरितेनाऽधिकारः । १ । ३ । ११ ॥

उस स्वरित के चिन्ह से अधिकार का बोध करना चाहिये जो अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगाते हैं। यह स्वरित वर्ण का धर्म होता है। जैसे—प्रत्ययः[4], धातोः[5], कर्मण्यण्[6], इत्यादि। अब जिसके ऊपर स्वरित का चिन्ह किया हो वह अधिकार कहां तक जावेगा यह बात उस-उस के विशेष व्याख्यान से जानना।

११४—विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥ १।४।२ ॥

विप्रतिषेध में पर को कार्य होना चाहिये। इतरेतरप्रतिषेधो विप्रतिषेधः। जो परस्पर एक दूसरे का रोकना है वह विप्रतिषेध कहाता है।

---

१. ना० १७६। २. सन्धि १८०। ३. अ० १।४।८९॥ ४. अ० ३।१।१॥ ५. आ० २। ६. आ० ९९८।

द्वौ प्रसङ्गौ यदान्यार्थौ भवत एकस्मिँश्च युगपत् प्राप्नुत स विप्रतिषेध । जो पृथक्-पृथक् प्रयोजन वाले दो कार्य एक विषय में एक काल में प्राप्त होते हैं उसको विप्रतिषेध कहते हैं। जैसे—वृक्षाभ्याम् । यहां 'सुपि च'[1] इससे दीर्घ होता है, और 'वृक्षेषु' यहां 'बहुवचने झल्येत्'[2] इससे एकारादेश होता है । ये तो इनके पृथक् पृथक् प्रयोजन हैं, परन्तु 'वृक्षेभ्य ' यहां जो दो सूत्रों की प्राप्ति एक काल में होकर वृक्ष शब्द को दीर्घ और एकारादेश दोनों ही प्राप्त होते हैं इसका न्याय इस परिभाषा सूत्र से किया है कि पर का कार्य एकारादेश हो जावे और पूर्वसूत्र का कार्य दीर्घादेश न हो, इत्यादि असंख्य प्रयोजन हैं ।

११५—अन्तादिवच्च ॥ ६ । १ । ८४ ॥

जो पूर्व पर के स्थान में एकादेश विधान किया है सो पूर्व का अन्त अवयव और पर का आदि अवयव समझना चाहिये । पूर्व, पर और एक शब्द की अनुवृत्ति इसके पूर्व सूत्र[3] से आती है। इसके प्रयोजन—जैसे पूर्व का अन्तवत्—ब्रह्मबन्धू । यहां ऊकारान्त शब्द से ऊङ् प्रत्यय होता है[4] । उकारान्त तो प्रातिपदिक [है] और प्रत्यय का ऊकार अप्रातिपदिक है इन दोनों ऊकारों का एकादेश प्रातिपदिक के ग्रहण करके गृहीत होने से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं हो सकती, इत्यादि । पर का आदिवत्—अग्नी इति, वायू इति । यहां इकार, उकार और औकार का एकादेश[5] हुआ है सो द्विवचन औकार को आदिवत् होने से ही प्रगृह्य संज्ञा[6] हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती थी, इत्यादि ।

११६—षत्वतुकोरसिद्धः ॥ ६ । १ । ८५ ॥

---

१ ना० २६ । २ ना० ३० । ३ एक पूर्वपरयोः (सन्धि० १२९) सूत्र से । ४ ऊङुतः (स्त्री० १२४) सूत्र से । ५, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (ना० १९) सूत्र से। ६ ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् (सन्धि० ६४) सूत्र से ।

जो षत्व और तुक्विधि के करने में पूर्व पर के स्थान में एकादेश है वह असिद्ध हो जाता है। जैसे—षत्व—कोऽसिचत्। यहां अकार को पूर्वरूप एकादेश हुआ है,[1] उसको षत्वविधि[2] करने में असिद्ध मान के षत्व नहीं होता, इत्यादि। तुक्विधि—अधीत्य, परीत्य। यहां सवर्णदीर्घ एकादेश[3] को असिद्ध मानकर ह्रस्व से परे तुक्[4] का आगम होता है, इत्यादि।

११७-वा०-संप्रसारणङीट्सु सिद्धः॥

महा० ६।१।८५॥

परन्तु जहां संप्रसारण, ङि विभक्ति और इट् प्रत्यय के साथ एकादेश हुआ हो तो वहां षत्व और तुक्विधि करने में एकादेश सिद्ध ही माना जावे। क्योंकि [पूर्व] सूत्र से [सिद्धत्व का] निषेध प्राप्त था, उसी प्रतिषेध का यह प्रतिषेध है। जैसे संप्रसारण–शकहूषु। यहां शकपूर्वक 'ह्वेञ्' धातु से क्विप् के परे संप्रसारण[5] को पूर्वरूप एकादेश[6] हुआ है, उसको असिद्ध मानने से सप्तमी विभक्ति के सकार को षत्व[7] नहीं पाता[8] था इससे होगया। ङि–वृक्षे वृक्षम्,

---

१. एङः पदान्तादति (सन्धि० १६०) सूत्र से। २. आदेशप्रत्यययोः (ना० २४, आ० ५६) सूत्र से। ३. अधि+इत्य, परि+इत्य 'अकः सवर्णे दीर्घः' (सन्धि० १३०) सूत्र से। ४. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (सन्धि० २०६) सूत्र से। ५. ह्वेञ्-आदेच उपदेशेऽशिति (आ० १४२) से आत्व। ह्वा+क्विप्- वचिस्वपियजादीनां किति (आ० २८३) से संप्रसारण-ह् उ आ। ६. ह् उ आ–सम्प्रसारणाच्च (सन्धि० १५९) से एकादेश-'हु', हलः (आ० ४५१) से दीर्घ-हू। ७. आदेशप्रत्यययोः (ना० ३४, आ० ५६) सूत्र से प्राप्त। ८. एकादेश असिद्ध होने पर 'उ+आ' ऐसी अवस्था होगी, उस में सुप् का सकार इण् कवर्ग से उत्तर नहीं रहता, बीच में 'आ' का व्यवधान हो जाता है।

वृक्षेच्छत्रम्। यहां वृक्ष शब्द का ङि विभक्ति के इकार के साथ एकादेश[1] हुआ है, जो उसको असिद्ध मानें तो पूर्ववत् नित्य तुक्[2] पाता है, 'पदान्ताद्वा'[3] से विकल्प इष्ट है, सो हो गया इत्यादि।

११८—पूर्वत्राऽसिद्धम् ॥ ८। २। १ ॥

जो कार्य यहां से पूर्व सपादसप्ताध्यायी अर्थात् एक पाद और सात अध्याय में जितना शब्दकार्य कहा है वहां सर्वत्र त्रिपादी का किया कार्य असिद्ध माना जावे, और त्रिपादी में भी पूर्व-पूर्व के प्रति पर-पर सूत्र का कार्य असिद्ध माना जाय। जैसे-पादा उच्यते। यहां 'लोपः शाकल्यस्य'[4] इस सूत्र से अवर्णपूर्व[5] वकार का लोप हुआ है, उसको असिद्ध मानकर गुण एकादेशरूप[6] सन्धि नहीं होती। अग्न आयाहि। यहां भी अवर्णपूर्व[7] यकार का लोप[8] होने से उसको असिद्ध मानकर सवर्ण दीर्घ[9] नहीं होता, इत्यादि। त्रिपादी में-गोधुङ्मान्। यहां दुह धातु के हकार को घकार,[10] घकार को

---

१. आद् गुणः (सन्धि० १२२) सूत्र से। २. एकादेश को असिद्ध मानने पर पूर्ववत् अर्थात् जैसे 'अधीत्य' में नित्य तुक् होता है वैसे 'वृक्ष+इ' इस अवस्था में 'छे च' (सन्धि० २०८) से नित्य तुक् प्राप्त होता है। ३. सन्धि० २११। ४. सन्धि० २५१। ५. यहां 'अवर्ण है पूर्व में जिस के' ऐसा बहुव्रीहि समास समझना चाहिये। ६. आद् गुणः (सन्धि० १२२) से प्राप्त। ७. यहां भी पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। ८. लोपः शाकल्यस्य (सन्धि० २५१) सूत्र से। ९. अकः सवर्णे दीर्घः (सन्धि० १३०) सूत्र से। १०. दादेर्धातोर्घः (आ० ३११) सूत्र से।

गकार[1] और गकार को डकार[2] और दकार को घकार[3] होता है। इस सब को असिद्ध मानकर मतुप् के मकार को वकारादेश[4] नहीं होता, इत्यादि।

२१६–नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ॥८।२।२॥

परन्तु प्रातिपदिकान्त नकार का जो लोप होता है वह सुप्, स्वर, संज्ञा और कृत्सम्बन्धी तुग्विधि इन्हीं विधियों के करने में असिद्ध माना जावे। सुप्विधि में दो प्रकार का समास होता है–सुप् के स्थान में जो विधि और सुप् के परे जो विधि। जैसे-सुप् के स्थान में जो विधि–राजभिः, तक्षभिः। यहां राजन्, तक्षन् शब्द के नकार का लोप[5] हुआ है उसको असिद्ध न मानें तो भिस् विभक्ति को ऐस्[6] आदेश हो ही जावे, सो इष्ट नहीं है। तथा सुप् के परे जो विधि-राजभ्याम्, तक्षभ्याम्। यहां नलोप को असिद्ध मानने से विभक्ति के परे दीर्घ[7] नहीं होता। स्वरविधि–पञ्चार्मम्, सप्तार्मम्। यहां पञ्चन् और सप्तन् शब्द के नकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध मानकर 'अर्मे चाऽवर्णं द्व्यच् त्र्यच्[8]' इस स्वरविधायक सूत्र से [जो] अवर्णान्त पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर प्राप्त है सो नहीं होता, क्योंकि नलोप के असिद्ध मानने से अवर्णान्त ही नहीं। संज्ञाविधि–पञ्चभिः, सप्तभिः। यहां पञ्चन् और सप्तन् शब्द के

१. झलां जशोऽन्ते (सन्धि० १९०) सूत्र से। २. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा। प्रत्यये भाषायां नित्यवचनम् (सन्धि० २२०) वार्तिक से। ३. एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (आ० २०४) सूत्र से। ४. यहां 'झयः' (सै० ६०४) से प्राप्त वकारादेश घत्व और जश्त्व के असिद्ध होने से नहीं होता। ५. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (ना० ६७) सूत्र से। ६. अतो भिस ऐस् (ना० २७) सूत्र से प्राप्त। ७. सुपि च (ना० २६) से प्राप्त। ८. अ० ६।२।९०॥

नकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध मानकर पदसंज्ञा [1] होती और तदाश्रय पदसंज्ञा के कार्य [2] भी होते हैं। तुग्विधि- ब्रह्महभ्याम्, ब्रह्महभिः। यहां नलोप को असिद्ध मानकर जो कृत् के आश्रय से तुक् [3] प्राप्त है सो नहीं होता। यहां 'कृत्' ग्रहण इसलिये है कि 'वृत्रहच्छत्रम्' यहां जो छकाराश्रय तुगागम [4] है सो हो जावे, इत्यादि।

(प्र०) "पूर्वत्राऽसिद्धम्" इस उक्त सूत्र से ही त्रिपादी के सब कार्य असिद्ध हो जाते, फिर यह सूत्र किस लिये किया?

(उ०) यह सूत्र नियमार्थ है कि इतने ही विधियों के करने में नकार का लोप असिद्ध माना जावे अन्यत्र नहीं। इससे 'राजीयति' यहां ईकारादेश अवर्णान्त [5] मानकर हो जाता है, इत्यादि।

---

१ नकारान्त संख्यावाची शब्द की 'ष्णान्ता षट्' (ना० १३६) सूत्र से षट् संज्ञा होती है। २, वेद में 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' ... वेद में 'शत्युपोत्तमम्' (अ० ६।१।१८०) सूत्र से नित्य और 'विभाषा भाषायाम्' (अ० ६।१।१८१) से भाषा में विकल्प करके उपोत्तम अर्थात् अन्त्य से पूर्व को उदात्त होता है। ३ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (सन्धि० २०६) सूत्र से। ४ वृत्रहच्छत्रम्—यहां 'ह्रस्वस्य पिति०' (सन्धि० २०६) सूत्र से प्राप्त कृदाश्रय तुग्विधि में नलोप के असिद्ध होने से 'वृत्रह' शब्द ह्रस्वान्त नहीं रहता, नकारान्त हो जाता है। परन्तु 'छे च' (सन्धि० २०८) सूत्र से प्राप्त तुग्विधि में नलोप असिद्ध नहीं होता, अर्थात् सिद्ध रहता है। अतः 'वृत्रह' शब्द को ह्रस्वान्त मानकर 'छे च' सूत्र से तुक् हो जाता है। ५ राजीयति—राजन्+क्यच्+तिप्। न क्ये (ना० ५६३) से पद संज्ञा होकर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (ना० ६७) से नकार का लोप होता है। नलोप सुपस्वर० (सन्धि० ११९) सूत्र के नियमार्थ होने से यहां असिद्ध नहीं होता, और राज शब्द को अवर्णान्त मानकर 'क्यचि च' (ना० ५६२) सूत्र से ईकारादेश हो जाता है।

१२०—न मु ने ॥ ८ । २ । ३ ॥

नाभाव करने में मुभाव असिद्ध नहीं होता अर्थात् सिद्ध ही माना जाता है। जैसे-अमुना। यहां अदस् शब्द के दकार को मकार और अकार को उकारादेश त्रिपादी में[1] होता है उसको असिद्ध नहीं मानने [अर्थात् उकारान्त मानने] से घिसंज्ञक[2] से परे टा विभक्ति को ना आदेश[3] हो जाता है, नाभाव कर लेने के पीछे जो मुभाव को असिद्ध मानें तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ[4] प्राप्त होता है, इसलिये ऐसा अर्थ करना कि 'नाभाव के करने में और करने के पश्चात् भी मुभाव सिद्ध ही माना जावे' इत्यादि।

१२१—वा०-संयोगान्तलोपो रोरुत्वे ॥ महा० ८ । २ । ६ ॥

यहां रु को उकारादेश करने में संयोगान्तलोप सिद्ध माना जाता है। जैसे-हरिवो मेदिनं त्वा। यहां जो 'हरिवन्त्' शब्द में संयोगान्त तकार का लोप असिद्ध माना जावे तो हश् के न होने से उत्व[5] प्राप्त नहीं होता, इत्यादि।

१ अदसोऽसेर्दादु दो मः (ना० १८८) सूत्र से। २ ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द की 'शेषो घ्यसखि' (ना० ५७) से घि संज्ञा होती है। ३ आङो नाऽस्त्रियाम् (ना० ५८) सूत्र से। ४ सुपि च (ना० २६) सूत्र से। ५ 'हरिवन्त् मेदिनम्' इस अवस्था में 'संयोगान्तस्य लोपः' (ना० ११२) से तलोप होकर 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि (अ० ८ । ३ । १) से नकार को रु आदेश होता है। उकार की इत्संज्ञा और लोप होकर मकार परे रहने पर 'हशि च' (सन्धि० २५४) से उत्व होता है। यदि यहां तकार लोप को असिद्ध मानें तो 'र्' से परे हश्=मकार नहीं मिलता, बीच में तकार का व्यवधान होता है।

१२२—वा०—सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः॥ महा० ८ । २ । ६ ॥

सवर्णदीर्घ एकादेश के करने में त्रिपादी में विहित सिच् प्रत्यय का लोप सिद्ध ही समझना चाहिये। जैसे—अलावीत्, अपावीत्। यहां इट् से परे सिच् के सकार का लोप ईट् के परे हुआ है,[1] पश्चात् उस सकार के लोप को असिद्ध मानें तो सवर्णदीर्घ एकादेश[2] नहीं पावे, इत्यादि।

१२३—वा०—संयोगादिलोपः संयोगान्तलोपे॥ महा० ८ । २ । ६ ॥

जो त्रिपादी में संयोगादि सकार ककार का लोप[3] होता है वह संयोगान्त लोप[4] करने में सिद्ध माना जावे। जैसे—काष्ठतट्। यहां संयोगादि ककार का लोप संयोगान्त लोप में सिद्ध मानने से संयोगान्त टकार का लोप नहीं होता इत्यादि।

१२४—वा०—निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः॥ महा० ८ । २ । ६ ॥

जो निष्ठासंज्ञक प्रत्ययों के स्थान में आदेश होते हैं वे षत्व, स्वर, प्रत्यय और इट्विधि के करने में सिद्ध मानने चाहियें। जैसे—षत्वविधि—वृक्णः, वृक्णवान्। यहां ओदित् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश[5] हुआ है उसको सिद्ध मानने से

१ इट ईटि (आ० १३२) सूत्र से। २ अकः सवर्णे दीर्घः (सन्धि० १३०) से प्राप्त। ३ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (आ० २१०) सूत्र से। ४ स्कोः संयोगाद्यो० (आ० २१०) सूत्र से। ५ ओदितश्च (आ० ११५६) सूत्र से।

'प्रश्चभ्रस्ज०'[1] इस सूत्र से षत्व नहीं होता, इत्यादि। स्वरविधि—क्षीवः। यहां क्षीव धातु से निष्ठा के परे इत्मात्र का लोप माना है[2]। (क्षीव्—इट्—क्त) इस अवस्था में निपातन से इट् का इ और क्त का त् इस प्रकार इत् का लोप होकर क्त के अ में व मिल के 'क्षीवः' बनता है, उसको सिद्ध मानके 'निष्ठा च द्व्यजनात्'[3] इससे आद्युदात्त स्वर ही जाता है। प्रत्ययविधि-- क्षीवेन तरति क्षीवक। यहां भी उस लोप के सिद्ध मानने से ही द्व्यच् लक्षण ठन्[4] प्रत्यय होता है। इट्विधि—क्षीवः। इसमें जब तकार के लोप का निपातन[5] मानते हैं तब उसको सिद्ध मानकर इट् नहीं होता।

१२५—वा०-प्लुतिस्तुग्विधौ छे च ॥ महा० ८।२।६॥

जो त्रिपादी में विधान किया हुआ प्लुत विकार[6] है उसे छकार के परे तुक् विधि[7] करने में सिद्ध ही समझना चाहिये।

---

१. आ० १३३। २ अनुपसर्गात् फुल्लक्षीवकृशोल्लाघाः (आ० ११७२) सूत्र से। ३. अ० ६।१।२०५॥ ४. नौ द्व्यचष्ठन् (स्त्रै० ४५९) सूत्र से। ५. क्षीव शब्द के निपातन में दो पक्ष हैं। प्रथम—क्षीव धातु से परे क्त प्रत्यय को इट् का आगम करके 'इत्' शब्द का लोप। दूसरा—क्त प्रत्यय के 'त्' का लोप। प्रथम पक्ष में स्वरविधि का उदाहरण है। द्वितीय पक्ष में तकार लोप को असिद्ध मानकर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (आ० ७६) सूत्र से इडागम की प्राप्ति होती है। अतः इड्विधि में तकार लोप के सिद्धत्व का विधान किया है। ६ एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते० (सन्धि० ५२) सूत्र से विहित प्लुतविषयक इ उ विकार। ७. छे च (सन्धि० २०८) सूत्र से।

जैसे-अग्ना३इच्छत्रम् । पटा३उच्छत्रम् । यहां प्लुत को सिद्ध मानकर तुक् का आगम हो जाता है।

१२६—वा०-श्चुत्वं धुड्विधौ ॥ महा० ८ । २ । ६ ॥

जो शकार चवर्ग के योग में सकार तवर्ग को शकार चवर्ग[1] होते हैं उनको धुड्विधि[2] में सिद्ध मानना चाहिये। जैसे-अट्+श्च्योतति। यहां शकार को सिद्ध[3] मानने से 'ड: सि धुट्'[4] इस सूत्र से धुट् का आगम नहीं होता।

१२७—वा०-अभ्यासजश्त्वचर्त्वमेत्वतुकोः॥ महा० ८ । २ । ६ ॥

जो अभ्यास में झलों को जश्त्व और चर्त्व[5] त्रिपादी में कहा है उसको एत्व और तुक् के करने में सिद्ध मानना चाहिये। जैसे—बभणतु, बभणु। यहां अभ्यास के भकार का बकारादेश[6] हुआ है, उसको सिद्ध मानने से आदेशादि[7] धातु को एत्व नहीं होता। चर्त्व- उचिच्छिषति। यह 'उच्छी विवासे' धातु का प्रयोग है, उसके अभ्यास में चकारादेश[8] होता है, उसको असिद्ध मानने

१ स्तोश्चुना श्चुः (सन्धि० २१३) सूत्र से। २ डः सि धुट् (सन्धि० २०१) सूत्र से। ३ श्च्युतिर् क्षरणे धातु वस्तुत सकारादि 'सच्युतिर्' है, चकार के योग में सकार को शकार हुआ है। यदि इसे असिद्ध मानकर सकार मानें तो धुट् की प्राप्ति होती है। अत एव इस वार्तिक से उसे सिद्धवत् माना है। ४ सन्धि० २०१। ५ अभ्यासे चर्च (आ० ४३) सूत्र से। ६ अभ्यासे चर्च (आ० ४३) सूत्र से। ७ अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (आ० १२५) सूत्र से। ८ अभ्यासे चर्च (आ० ४३) सूत्र से।

से तुक्[1] पाता है सो सिद्ध मानकर न होवे ।

१२८—वा०—द्विर्वचने परसवर्णत्वम् ॥

महा० ८ । २ । ६ ॥

जहां-जहां 'अनचि च[2]' करके द्विर्वचन करते हैं वहां-वहां परसवर्ण सिद्ध ही मानना चाहिये । जैसे सय्ँय्ँयन्ता, सव्ँव्ँवत्सरः, यल्ँल्ँलोकम्, तल्ँल्ँलोकम्, इत्यादि में अनुस्वार को परसवर्ण आदेश[3] होता है उसको सिद्ध मानने से द्विर्वचन[4] होता है, इत्यादि ॥

॥ इति परिभाषाप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१. असिद्ध अर्थात् छकार मानने पर 'छे च' (सन्धि० २०८) से तुक् पाता है । २. (सन्धि० २२२) ३. वा पदान्तस्य (सन्धि० १९८) सूत्र से । ४. अनचि च (सन्धि० २२२) सूत्र से ।

अथ साधनप्रकरणम्

१२६—एकः पूर्वपरयोः ॥ ६ । १ । ८३ ॥

यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे जो-जो कहेंगे वह सब पूर्व पर के स्थान में एकादेश समझना चाहिये।

१३०—अकः सवर्णे दीर्घः ॥ ६ । १ । ६६ ।

अक प्रत्याहार से सवर्ण अच परे हो तो पूर्व पर के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हो। अक् प्रत्याहार में पांच वर्ण लिये जाते हैं अ, इ, उ, ऋ, लृ। इनकी परस्पर सन्धि दिखलाते हैं। अवर्ण में परस्पर चार प्रकार के सन्धि[1] होते हैं। अ+अ, अ+आ, आ+अ आ+आ। इन दो-दो का मिलके सवर्ण दीर्घ आकार हो जाता है। जैसे—परम+अर्थ = परमार्थ, वेद+आदि.= वेदादि, विद्या+अर्थी,= विद्यार्थी, विद्या+आनन्दः= विद्यानन्द। अन्य शब्दों में भी अवर्ण सन्धि इसी प्रकार के आवेंगे। इवर्ण में भी चार भेद हैं। इ+इ, इ+ई, ई+इ, ई—ई। जैसे—प्रति+इतिः= प्रतीति, भूमि+ईश= भूमीश। मही—इन= महीन, कुमारी—ईहते= कुमारीहते। ऐसे उवर्ण का भी चार प्रकार का विषय है। जैसे-उ+उ, उ×ऊ, ऊ+उ, ऊ+ऊ। क्रम से उदाहरण-, विधु+उदय = विधूदय, मधु+ऊर्णो = मधूर्णो, चमू+उद्गम.= चमूद्गम, बधू×ऊति = बधूति। ऋवर्ण के विषय में भी ऐसा

1. संस्कृतभाषा में 'सन्धि' शब्द 'क्यन्तो घु' (लिङ्गानुशासन ४१) नियम से पुंलिङ्ग है। इस ग्रन्थ में भी उसी नियम से पुंलिङ्ग मानकर व्यवहार किया है। आजकल हिन्दीभाषा में सन्धिशब्द स्त्रीलिङ्ग माना जाता है।

ही समझना, परन्तु लिखते भी हैं। पितृ+ऋणम्,—पितृणम्, इत्यादि। परन्तु ऋ लृ दो वर्णों में इतना विशेष है—

१३१—वा०—ऋति ऋ वा वचनम्॥

महा० ८।१।६६॥

ह्रस्व ऋकार से सवर्ण ऋकार के परे पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके ह्रस्व ऋकार एकादेश होता [है,] और दूसरे पक्ष में दीर्घ एकादेश होता है। सूत्र से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त है, इसलिये यह वार्तिक पढ़ा है। जैसे—होतृ+ऋकारः=होतृकारः। द्वितीय पक्ष में—होतृ+ऋकारः=होतॄकारः।

१३२—वा०—लृति लृ वा वचनम्॥

महा० ८।१।६६॥

ऋकार लृकार के स्थान प्रयत्न एक नहीं हैं, इसलिये सवर्णसंज्ञा विषय में वार्तिक लिख चुके हैं[1]। और अक् प्रत्याहार में भी ऋ लृ दोनों पढ़े हैं। ऋकार से ह्रस्व लृकार के परे पूर्व पर के स्थान में ह्रस्व लृकार एकादेश हो। जैसे-होतृ+लृकारः=होत्लृकारः। और जिस पक्ष में ऋकार लृकार को मिलके लृकार एकादेश नहीं होता वहां लृकार के दीर्घ नहीं होने[2] से दीर्घ ऋकार एकादेश ही होजाता है। जैसे-होतॄकारः। इन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा का फल भी यही है कि दोनों को मिलके एकादेश हो जावे।

१३३-आद् गुणः॥ ६।१।८६॥

अवर्ण से असवर्ण अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होता है। जैसे-अ+इ, अ+ई, अ+उ, अ+ऊ, अ+ऋ, आ+इ, आ+ई, आ+उ, आ+ऊ, आ+ऋ, यह दश प्रकार का गुण एकादेश होता है। क्रम से उदाहरण-प्र+इदम्=प्रेदम्,

१. देखो पूर्व पृष्ठ ११। २. ऌवर्णस्य दीर्घा न सन्ति। वर्णो० प्र०६।

परम+ईशः=परमेशः, सूर्य+उदयः=सूर्योदयः, शब्द+ऊहा=शब्दोहा, महा+ऋषिः=महर्षिः। यहां अकार ऋकार के स्थान में 'उरण् रपरः'[1] सूत्र से रपर अर्थात् अर् आदेश हो गया है। कन्या+इयम्=कन्येयम्, महा+ईश्वरः=महेश्वरः, कृपा+उद्घाटनम्=कृपोद्घाटनम्, रत्न+ऊहः=रत्नोहः, महा+ऋषिः=महर्षिः। इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी उदाहरण आवेंगे।

१३४–वृद्धिरेचि ॥ ६ । १ । ८७ ॥

अवर्ण से एच् प्रत्याहार परे हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय। यह सूत्र गुणादेश का अपवाद है। एच् प्रत्याहार में चार वर्ण आते हैं–ए, ऐ, ओ, औ। इन चार वर्णों के परे वृद्धि होती है। अ+ए, अ+ऐ, अ+ओ, अ+औ, आ+ए, आ+ऐ, आ+ओ, आ+औ। इसी रीति से आठ प्रकार की वृद्धि होती है। जैसे–महा+एकम्=महैकम्, परम+ऐश्वर्यम्=परमैश्वर्यम्, शुद्ध+ओदनः=शुद्धौदनः, परम+औषधम्=परमौषधम्, महा+ओजस्वी=महौजस्वी, समा+एका=समैका, विद्या+ऐहिकी=विद्यैहिकी, खट्वा+औपगवः=खट्वौपगवः।

अब इन गुण वृद्धि के विशेष अपवादरूप सूत्र लिखते हैं–

१३५–एत्येधत्यूठ्सु ॥ ६ । १ । ८८ ॥

अवर्ण से एति, एधति और ऊठ् परे हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो। यहां एति और एधति इन दो धातुओं के परे 'एङि पररूपम्'[2] से पररूप एकादेश पाता था, इसलिये वृद्धि का आरम्भ किया है, और ऊठ् आदेश में गुण[3] पाता था उसका अपवाद है। उप+एति=उपैति, उप+एमि=उपैमि, प्र+एधते=

१. सन्धि० ८५। २. सन्धि० १४५। ३. सन्धि० १३३ सूत्र से।

प्रैधते, उप+एधते = उपैधते, ऊठ्-प्रष्ठ+ऊहः = प्रष्ठौहः, प्रष्ठ+ऊहे = प्रष्ठौहे।

१३६—वा०—अक्षादूहिन्याम् ॥

महा० ६। १। ८८॥

अक्ष शब्द के आगे ऊहिनी शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-अक्ष+ऊहिनी = अक्षौहिणी। यहां गुण[1] एकादेश का बाधक वृद्धि है।

१३७—वा०—प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ॥

महा० ६। १। ८८॥

प्र उपसर्ग के आगे ऊह, ऊढ, ऊढि, एष और एष्य शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-प्र+ऊहः = प्रौहः, प्र+ऊढः = प्रौढः, प्र+ऊढिः = प्रौढिः, प्र+एषः = प्रैषः, प्र+एष्यः = प्रैष्यः। इन शब्दों में पूर्व पर के स्थान में गुण[2] को बाध के वृद्धि होती है।

१३८—वा०—स्वादिरेरिणोः ॥

महा० ६। १। ८८॥

स्व शब्द के आगे इर और इरिन् शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-स्व+इरम् = स्वैरम्, स्व+इरी = स्वैरी। यहां गुण पाता था[3] सो न हुआ।

१३९—वा०—ऋते च तृतीयासमासे ॥

महा० ६। १। ८८॥

---

१. सन्धि० १२३ सूत्र से प्राप्त। २. ऊह, ऊढ और ऊढि में 'आद् गुणः' (सन्धि० १२३) सूत्र से, और एष तथा एष्य में 'एङि पररूपम्' (सन्धि० १४५) सूत्र से। ३. सन्धि० १२३ सूत्र से।

अवर्णान्त पूर्वपद के आगे तृतीयासमास में ऋत शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। सुखेन+ऋत = सुखार्त, दुःखेन+ऋत = दुःखार्त। यहां 'ऋत' ग्रहण इसलिये है कि 'सुख+इत = सुखेत' ऐसे वाक्यों में वृद्धि न हो। 'तृतीया' ग्रहण इसलिये है कि 'परम+ऋत = परमर्त' यहां भी वृद्धि एकादेश न हो। और 'समास' ग्रहण इसलिये है कि सुखेन+ऋत = सुखेनर्त' यहां भी वृद्धि एकादेश न हुआ। यहां[1] गुण और प्रकृतिभाव[2] भी पाया था।

१४०—वा०—प्रवत्सतरकम्बलवसनानां च ऋणे ॥

महा० ६।१।८८॥

प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन इन शब्दों के आगे ऋण शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-प्र+ऋणम् = प्रार्णम्, वत्सतर+ऋणम् = वत्सतरार्णम्, कम्बल+ऋणम् = कम्बलार्णम्, वसन+ऋणम् = वसनार्णम्। यहां सर्वत्र गुण और प्रकृतिभाव[2] पाया था।

१४१—वा०—ऋणदशाभ्यां च ॥

महा० ६।१।८८॥

ऋण और दश शब्द के आगे ऋण शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे—ऋण+ऋणम् = ऋणार्णम्, दश+ऋणम्—दशार्णम्। यहां भी गुण और प्रकृतिभाव[2] दोनों पाये थे।

* [१४२—आटश्च ॥ ३।१।८९ ॥

जो धातुओं के पूर्व आट् का आगम होता है उससे परे अजादि

---

१ यहां अर्थात् सुखार्त, दुःखार्त शब्दों में। २-गुण-आद् गुणः (सन्धि० ११३) सूत्र से। प्रकृतिभाव—ऋत्यक (सन्धि० १०६) सूत्र से। * कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथमावृत्ति में अधिक है।

धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है जैसे-आ+ईषत=ऐषत, आ+ईक्षिष्ट=ऐक्षिष्ट, आ+ईहिष्ट=ऐहिष्ट, आ+ऊनत्=औनत्। यहां 'आद् गुणः'[1] इस सूत्र से गुण पाया था सो न हुआ।]

१४३—उपसर्गादृति धातौ ॥ ६। १। ९०॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय। यह सूत्र भी गुण एकादेश का बाधक है। [जैसे-] प्र+ऋच्छति=प्रार्च्छति, उप+ऋच्छति=उपार्च्छति, प्र+ऋध्नोति=प्रार्ध्नोति। यहां 'उपसर्ग' ग्रहण इसलिये है कि 'खट्वा+ऋच्छति=खट्वर्च्छति' यहां वृद्धि न हुई।

१४४—वा०-सुप्यापिशलेः ॥ ६। १। ९१॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि सुबन्त धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके वृद्धि एकादेश होता है, पक्ष में गुण हो जाय, परन्तु यह बात आपिशलि आचार्य के मत में है अन्य के नहीं। यहां पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति आती है। [जैसे-] उप+ऋषी-यति=उपार्षीयति, उपर्षीयति। विकल्प के लिये वा शब्द तो पढ़ा ही है फिर जो यहां आपिशलि का ग्रहण है सो सत्कारार्थ है।

१४५—एङि पररूपम् ॥ ६। १। ९३॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। यह सूत्र वृद्धि का अपवाद है। [जैसे—] प्र+एलति=प्रेलति, उप+एलति=उपेलति, प्र+ओषति=प्रोषति, उप+ओषति=उपोषति।

१४६-वा०-एवे चानियोगे ॥ महा० ६। १। ९३॥

1. सन्धि० १३३।

अनियोग अर्थात् अनियत अर्थ में अवर्णान्त से परे एव शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो जाय। [जैसे—] इह+एव=इहेव, अद्य+एव=अद्येव। यहां 'अनियोग' ग्रहण इसलिये है कि 'इहैव भव, मा स्म गाः' यहां नियोग के होने के कारण पररूप न हुआ।

१४७—वा०—शकन्ध्वादिषु च ॥

महा० ६।१।९४॥

शकन्धु आदि शब्दों में पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। जैसे-शक+अन्धुः=शकन्धुः, कुल+अटा=कुलटा, इत्यादि।

'सीम+अन्त' शब्द भी शकन्ध्वादि शब्दों के सदृश है, परन्तु इस में भेद यह है कि—

१४८—वा०—सीमन्तः केशेषु ॥

महा० ६।१।९४॥

केश अर्थ वाच्य हो तो सीम शब्द से अन्त शब्द के परे पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो जाय। जैसे-सीम+अन्तः=सीमन्तः। यहां 'केश' ग्रहण इसलिये है कि अन्यत्र पररूप एकादेश न हो, अर्थात् जैसे—सीमान्तः। यहां पररूप एकादेश न हुआ, किन्तु सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया।

१४९—वा०—ओत्वोष्ठयोः समासे वा ॥

महा० ६।१।९४॥

जो अवर्णान्त के आगे ओतु, ओष्ठ शब्दों का समास किया हो तो विकल्प करके पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। पक्ष में वृद्धि हो जाती है क्योंकि इस वार्त्तिक से वृद्धि की प्राप्ति में पररूप एकादेश किया है। जैसे-स्थूल+ओतुः=स्थूलोतुः, स्थू-

लौतुः; बिम्ब+ओष्ठी = बिम्बोष्ठी, बिम्बौष्ठी। यहां 'समास' ग्रहण इसलिये है कि 'एहि बालौतुरायाति' यहां समास के न होने से पररूप नहीं हुआ।

१५०—वा०–एमन्नादिषुच्छन्दसि ॥

महा० ६ । १ । ९१ ॥

वेदस्थ प्रयोगों में अवर्ण से परे एमन् आदि शब्द हों तो पररूप एकादेश हो। जैसे–अपां त्वा+एमन् = अपां त्वेमन्, अपां त्वा+ओद्मन् = अपां त्वोद्मन्, इत्यादि। यहां वृद्धि पाई थी सो न हुई।

१५१—ओमाङोश्च ॥ ६ । १ । ९४ ॥

जो अवर्णान्त शब्द से परे ओम् और आङ् शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। जैसे–कन्या+ओमित्युवाच = कन्योमित्युवाच, आ+ऊनति = ओनति,अद्य+ओनशि = अद्योनशि, कदा+ओनशि = कदोनशि। यहां आकार का ऊकार के साथ पररूप एकादेश होता है उसका पर का आदिवत् मान के पुनः पररूप एकादेश होता है। यहां भी वृद्धि प्राप्त थी[1] सो न हुई।

*[१५२—उस्यपदान्तात् ॥ ६ । १ । ९५ ॥

जो अपदान्त अवर्ण से परे उस् प्रत्यय हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। यह भी गुण का अपवाद है। हन्या+उस् = हन्युः, भिन्द्या+उस् = भिन्द्युः, इत्यादि। यहां 'अपदान्त' ग्रहण इसलिये है कि 'का+उस्रा = कोस्रा, तत्र+उषित्वा = तत्रोषित्वा' यहां पदान्त में पररूप एकादेश न हुआ।

१. वृद्धिरेचि (सन्धि० १२७) सूत्र से।

* कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथमावृत्ति में अधिक है।

१५३—अतो गुणे ॥ ६ । १ । ६६ ॥

जो अपदान्त अकार से परे गुणवाची अ, ए, ओ, हों तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। [जैसे-] पच + अन्ति = पचन्ति, पच + ए = पचे, इत्यादि।

१५४—अव्यक्ताऽनुकरणस्यात इतौ ॥ ६ । १ । ६७ ॥

जो इति शब्द परे हो तो अव्यक्त शब्द का जो अनुकरण उसके अत् भाग को पररूप एकादेश हो जावे। जिसमें अकारादि वर्ण स्पष्ट न निकलें उसको अव्यक्त शब्द कहते हैं। अनुकरण वह कहाता है कि किसी मनुष्य ने जैसा शब्द किया हो उसका प्रतिशब्द नक़ल करनी। जैसे—पटत् + इति = पटिति, घटत् + इति = घटिति, इत्यादि। यहां अव्यक्त का अनुकरण इसलिये कहा है कि 'जगत् + इति = जगदिति' ऐसे वाक्यों में पररूप एकादेश न हुआ।

१५५—वा०—इतावनेकाज्ग्रहणं श्रदर्थम् ॥

महा० ६ । १ । ९७ ॥

जहां इति शब्द के परे अव्यक्त शब्द के अनुकरण को पररूप एकादेश किया है वहां अनेकाच् अव्यक्त शब्द को हो, अर्थात् 'श्रत् + इति = श्रदिति' यहां एकाच् शब्द के अत् भाग को पररूप न हुआ।

१५६—तस्य परमाम्रेडितम् ॥ ८ । १ । २ ॥

जो द्विर्वचन का पर भाग है उसकी आम्रेडित संज्ञा होती है। जैसे-स्रक्-स्रक्। यहां जो परे स्रक् शब्द है उसको आम्रेडित कहते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना।

१५७—नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥ ६ । १ । ६८ ॥

जो आम्रेडित संज्ञक अव्यक्त शब्द के अनुकरण का अत् भाग हो उसको इति शब्द के परे पररूप एकादेश न हो, किन्तु जो आम्रे-

हितसंज्ञक के अन्त में तकार है उसको विकल्प करके पररूप एकादेश होवे। पटत् पटत्। यहां पर भाग आम्रेडित कहाता है। पटत् पटत्+इति=पटत्पटेति। और जिस पक्ष में पररूप [न] हुआ वहां—पटत्पटदिति।

१५८–वा०–नित्यमाम्रेडिते डाचि पररूपं वक्तव्यम्॥ महा० ६। १। ९८॥

इस वार्तिक का प्रयोजन यह है कि जो अनुकरण में डाच प्रत्ययान्त आम्रेडित परे हो तो पूर्व के अन्त्य के तकार को नित्य पररूप एकादेश हो जाय। जैसे–पटत्+पटा। यहां तकार को पर अर्थात् पकार का रूप हो जाता है। पटपटा करोति, पटपटायते, घटघटा करोति, घटघटायते, शरशरा करोति, शरशरायते॥

काशिकावाले जयादित्य आदि लोगों ने इस वार्त्तिक का सूत्रपाठ में व्याख्यान किया है, सो सत्य नहीं। महाभाष्य के देखने से स्पष्ट विदित होता है कि यह सूत्र नहीं है, किन्तु लेखकभ्रम से सूत्रों में लिखा गया है।

*[१५९–संप्रसारणाच्च॥ ६। १। १०६॥

यण् अर्थात् य व र ल इन चार वर्णों के स्थान में इक् अर्थात् इ, उ, ऋ, ऌ, ये चार आदेश होते हैं, इनको संप्रसारण कहते हैं[1]। जो संप्रसारण से परे अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे–यज्+क्त+सु=इ+अज्+क्त+सु=इष्टम्, यज्+क्तिन्+सु=इ+अज्+क्तिन्+सु=इष्टिः, वप्+क्त+

* यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथमावृत्ति में अधिक है।

1. देखो 'इग्यणः संप्रसारणम्'। अष्टा० १। १। ४५॥

सु = व + अप् + क्त + सु = वप्तम्, ग्रह + क्त + सु = गृ + अह् + क्त + सु = गृहीतम्, + ग्रह, क्तिन् + सु = गृ + अह् × क्तिन + सु = गृहीतिः, इत्यादि ।]

१६०—एङः पदान्तादति ॥ ६ । १ । १०७ ॥

जो पदान्त एङ् से परे ह्रस्व अकार हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । जैसे-अग्ने + अत्र = अग्नेऽत्र, वायो + अत्र = वायोऽत्र, ब्राह्मणो + अब्रवीत् = ब्राह्मणोऽब्रवीत्, गुरवे + अदात् = गुरवेऽदात् । 'अत्' ग्रहण इसलिये है कि 'वायो + इति' यहां पूर्वरूप न हुआ ।

१६१—प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे[1] ॥ ६ । १ । ११३ ॥

यहां से लेके सात सूत्रों का विषय वेदों ही में समझना । जहां वकार यकार परे न हों ऐसे अकार के परे पदान्त एङ् प्रकृति करके अर्थात् ज्यों का त्यों बना रहे, यदि वह [एङ्] पाद के बीच में हो । जैसे—आरे अस्मे च शृण्वते, त्रयो अस्य पादाः, उप प्रयन्तो अध्वरम्, शुक्र दुदुदे अह्रयः, यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः, इत्यादि । यहां पाद के बीच में इसलिये कहा है कि—'द्विषतो वधोऽसि, रक्षसां भागोऽसि, इत्यादि में एङ् प्रकृति करके न रहे[2] । वकार यकार परे न हों यह इसलिये है कि 'तेऽवदन्, तेऽयुः' इत्यादि में भी प्रकृतिभाव न हो ।

१६२—अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥ ६ । १ । ११४ ॥

---

१. महाभाष्य के अनुसार इस सूत्र का पाणिनीय पाठ 'प्रान्तः पादम्' है । इस का अर्थ है—पाद के मध्य में जो एङ् उस से अयजं परे रहने पर जो कार्य कहा है वह न हो । इस सूत्र का पाठान्तर 'प्रकृत्यान्तः पादम्' है । 'अव्यपरे' अंश वार्तिक का है । २. पाद शब्द का व्यवहार पद्यवद् मन्त्रों में ही होता है । ये प्रत्युदाहरण गद्यमन्त्रों के हैं ।

पदान्त एङ् से अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन उत्तरपदों में वकार यकार पर भी अकार परे हो तो पदान्त एङ् प्रकृति करके रह जावे। जैसे-वसुभिर्नो अव्यात्, मित्रमहो अवद्यात्, मा शिवासो अवक्रमुः, ते नो अव्रतः, शतधारो अयं मणिः, ते नो अवन्तु पितरः, शिवासो अवस्यवः, इत्यादि।

१६३—यजुष्युरः ॥ ६ । १ । ११५ ॥

यजुर्वेद में अकार के परे उरः शब्द का 'उरो' पदान्त एङ् होता है वह प्रकृति करके रहे। जैसे—उरो अन्तरिक्षम्, इत्यादि।

१६४-आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठे अम्बे अम्बाले अम्बिके पूर्वे ॥ ६ । १ । ११६ ॥

यजुर्वेद में आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, ये एङन्त शब्द अकार के पूर्व हो तो प्रकृति करके रहें, और अम्बिक शब्द से पूर्व अम्बे, अम्बाले हो तो ये दो शब्द इसी प्रकार रहें। जैसे-आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु, जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा, वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिभिः, वर्षिष्ठे अधिनाके, अम्बे अम्बाले अम्बिके।

१६५-अङ्ग इत्यादौ च ॥ ६ । १ । ११७ ॥

जो यजुर्वेद में अकार परे हो तो 'अङ्गे' एङन्त शब्द प्रकृति करके रह जावे, और जो अङ्गे इसके परे आदि एङ है सो भी प्रकृति करके रहता है। जैसे-ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् इत्यादि।

१६६-अनुदात्ते च कुधपरे ॥ ६ । १ । ११८ ॥

यजुर्वेद में जिस अनुदात्त अकार से परे कवर्ग और धकार हों उसके परे पदान्त एङ् प्रकृति करके रह जावे। जैसे—अयं सो अग्निः, अयं सो अध्वरः, इत्यादि।

हत; कुमारि औहत, कुमार्यौहत; मधु आगमनम्, मध्वागमनम्; मधु इन्दति, मध्विन्दति; मधु ईहते, मध्वीहते; मधु ऋच्छति, मध्वृच्छति; मधु एति, मध्वेति; मधु आस्वति, मध्वास्वति; मधु ऐधिष्ट, मध्वैधिष्ट; मधु औदिष्ट, मध्वौदिष्ट; पितृ अयनम्; पित्रयनम्; पितृ आदरः, पित्रादरः; पितृ इच्छुः, पित्रिच्छुः; पितृ ईहा, पित्रीहा; होतृ उस्रा, होत्रुस्रा; पितृ ऊह, पित्रूहः, इत्यादि असंख्य प्रयोग बनते हैं। यहां 'असवर्ण' ग्रहण इसलिये है कि 'कुमारी ईहते—कुमारीहते' इसके दो प्रयोग न हों, किन्तु नित्य ही दीर्घ एकादेश हो जावे, और शाकल्यग्रहण आदरार्थ है[1]।

१७४—वा०—सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधः॥ महा० ६। १। १२५॥

सित् प्रत्यय के परे और नित्यसमास में शाकल अर्थात् इस 'इकोऽसवर्णे०' सूत्र का कार्य न हो। ऋतु+इयः। यहां 'इयः' सित् प्रत्यय है इसके परे प्रकृतिभाव नहीं होता, 'ऋत्वियः' यह एक ही प्रयोग होता है। नित्यसमास— वि आकरणम्=व्याकरणम्, कुमारी अर्थः=कुमार्यर्थः। यहां प्रकृतिभाव और ह्रस्व नहीं होता।

१७५—वा०—ईषा-अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रम्। महा० ६। १। १२५॥

वैदिक विषय में 'ईषाअक्षा' आदि शब्दों में प्रकृति भाव मात्र होता है। अर्थात् जिन में 'इकोऽसवर्णे' सूत्र से ह्रस्वत्व को भी

1. यण् सन्धि के विधान सामर्थ्य से यण् सन्धि होगी, और प्रकृति भाव के विधान सामर्थ्य से प्रकृति भाव। इस प्रकार दोनों रूप विधान सामर्थ्य से बन ही जावेंगे। अतः शाकल्य ग्रहण यहां विकल्पार्थ नहीं है।

प्राप्ति होती है वह नहीं होती। जैसे—ईषा अक्षः। का ईमिरे पिशङ्गिला, पथा अगमन्, इत्यादि।

१७६—ऋत्यकः ॥ ६ । १ । १२६ ॥

जो अक् प्रत्याहार से परे ह्रस्व ऋकार हो तो उसे शाकल्य ऋषि के मत में प्रकृतिभाव और ह्रस्व होता और अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता है। खट्वा + ऋश्यः = खट्व ऋश्यः, माला + ऋश्यः = माल ऋश्यः। यहां ह्रस्व और प्रकृतिभाव हुआ, और 'खट्वर्श्यः, मालर्श्यः' यहां न हुआ। इत्यादि प्रयोग बनते हैं। यहां 'अक्' ग्रहण इसलिये है कि 'कुमारावृषा' यहां सन्धि हो जाय।

१७७—अप्लुतवदुपस्थिते ॥ ६ । १ । १२७ ॥

जो प्लुत से परे उपस्थित अर्थात् अनार्ष इति शब्द हो तो प्लुत को अप्लुतवत् कार्य हो, अर्थात् प्लुत को प्रकृतिभाव न हो। जैसे—सुभद्रा३ इति सुभद्रेति, सुमङ्गला३ इति = सुमङ्गलेति, सुश्लोका३ इति = सुश्लोकेति। जिन शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है उनमें से किसी-किसी की प्लुत संज्ञा भी होती है। जैसे—अमी३ इति, इत्यादि। यहां प्लुत को अप्लुतवत् होकर सन्धि नहीं होता, क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा को मान के प्रकृतिभाव हो जाता है।

१७८—ईं३ चाक्रवर्मणस्य ॥ ६ । १ । १२८ ॥

जो प्लुत ईकार है वह चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् होता है, अर्थात् उसको प्लुत का कार्य नहीं होता। चिनुही३ इदम् = चिनुहीदम्, सुनुही३ इदम् = सुनुहीदम्, इत्यादि। यहां भी पूर्व सूत्र से अप्लुवत् हो जाता, परन्तु यह सूत्र उपस्थित से अन्यत्र हो अप्लुवत् करता है।

१७९—इको यणचि ॥ ६ । १ । ७६ ॥

इक् प्रत्याहार अर्थात् इ, उ, ऋ, लृ, इन चार वर्णों से परे अच् हो तो इन के स्थान में यण अर्थात् य, व, र, ल ये चार वर्ण [क्रमश.] हो जावें। जैसे—वापी—अश्व = वाप्यश्व, कुमारी—अपि = कुमार्यपि। यहां बाहिरङ्गलक्षण यणादेश को असिद्ध मानकर संयोगान्तलोप नहीं होता[1]। वधू + अत्र = वध्वत्र, पितृ + अर्थम् = पित्रर्थम्, लृ + अनुबन्ध —लनुबन्धः, इत्यादि असंख्य उदाहरण बनते हैं।

१८०—एचोऽयवायावः ॥ ६ । १ । ७७ ॥

एच् अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ इन चार वर्णों से परे अच् हो तो इनके स्थान में क्रम से अय्, अव्, आय्, आव्, ये आदेश होते हैं। जे + अ—जय[2]। माले + आ—मालया[3], माले + ओ —

---

१. वाप्यश्व, कुमार्यपि उदाहरणों में 'संयोगान्तस्य लोप.' (ना० ११२) से यकार का लोप प्राप्त होता है। यकारलोप स्वपदाश्रय कार्य है, और यणादेश द्विपदान्तर्गत इक् और अच् को मानकर होता है। 'बह्वपेक्षं बहिरङ्गम्' अल्पापेक्षमन्तरङ्गम्' इस नियम के अनुसार यकारलोप अन्तरङ्ग और यणादेश बहिरङ्ग कार्य है। असिद्धं बहिरङ्ग-लक्षणमन्तरङ्गलक्षणे (परि० ४४) अर्थात् बहिरङ्ग लक्षण कार्य अन्तरङ्गलक्षण कार्य की दृष्टि में असिद्ध होता है इस नियम से अन्तरङ्ग यकार लोप के प्रति बहिरङ्ग यणादेश असिद्ध होता है। यणादेश के असिद्ध होने से यलोप नहीं होता।

२. जि धातु से परे 'एरच्' (आ० १३९९) से अच्, सार्वधातु-कार्धधातुकयो (आ० २१) से गुण—जे + अ। ३. माला शब्द से परे तृतीया का एकवचन, षष्ठी, सप्तमी का द्विवचन हो तो 'आङि चाप' (ना० ५०) सूत्र से एकारादेश होता है।

मालयोः, इत्यादि। वायौ + आयाहि = वायवायाहि, लो + अः = लवः[1] [इत्यादि]। ऐ + अः—आयः[2], इत्यादि। लौ + अकः = लावकः[3], इत्यादि।

१८१—वान्तो यि प्रत्यये ॥ ६ । १ । ७८ ॥

वान्त अर्थात् जो पूर्वसूत्र में अव् आव् आदेश कहे हैं वे यकारादि प्रत्यय के परे भी हो जावें। जैसे–अव्–बाभ्रो + यः = बाभ्रव्यः[4], आव्–नौ + यः—नाव्यः,[5] इत्यादि। यहां 'वान्त' ग्रहण इसलिये है कि 'रैयति[6]' यहां न हो। यकारादि ग्रहण इसलिये है कि 'नौका[7]' यहां न हो। 'प्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि 'गोयानम्' यहां अव् आदेश न हो जावे।

१८२—वा०–गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ महा० ६ । १ । ७८ ॥

वैदिक प्रयोगों में गो शब्द से परे यूति हो तो गो शब्द के [ओकार के] स्थान में वान्त आदेश होजाय। आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। यहां'गो'आगे'यूतिः'इसका 'गव्यूतिः' हुआ है।

१. ऋदोरप् (आ० १५०१) से अप्, पूर्ववत् गुण—लो + अ। २. आङ् + इण्—एरच् (आ० १२९९) से अच् पूर्ववत् गुण, आ + ए = ऐ—वृद्धिरेचि (सन्धि १२४) से वृद्धि, ऐ + अ। ३. ण्वुल्तृचौ (आ० ९७६) से ण्वुल्, 'युवोरनाकौ' (अ० ७ । १ । १) से अक आदेश, 'अचोऽञ्णिति' (आ० ६०) से वृद्धि—लौ + अकः। ४. मधुबभ्र्वो-र्ब्राह्मणकौशिकयोः (तै० १८३) से यञ्, 'तद्धितेष्वचामादेः' (तै० ९१४) से वृद्धि, 'ओर्गुणः' (तै० १६६) से गुणादेश—बाभ्रो + य। ५. नौवयोधर्मविषमूल० (तै० ५१३) से यत्। ६. सुप आत्मनः क्यच् (आ० ५६१) से क्यच्—रै + य + ति। ७. ह्रस्वा नौः, नौका—'ह्रस्वे' (अ० ५ । ३ । ८६) से क प्रत्यय।

१८३—वा०—अध्वपरिमाणे च ॥ महा० ६। १। ७८ ॥

मार्ग के परिमाण का अर्थ हो तो यूति शब्द के परे गो शब्द के [ओकार के] स्थान में वान्त आदेश हो। जैसे—गो+यूतिः= गव्यूतिः, गव्यूतिमध्वानं गतः। दो कोश को गव्यूति कहते हैं।

१८४—धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥ ६। १। ७९ ॥

जहां यकारादि प्रत्यय को मानके धातु को एच् हुआ हो तो यकारादि प्रत्यय के परे वान्त आदेश होता है, अन्यत्र नहीं। भो+यम्—भव्यम्[1], अवश्य+लो+यम्=अवश्यलाव्यम्[2]। यहां 'धातु' ग्रहण इसलिये है कि प्रतिपादिक का नियम न हो जावे। 'तन्निमित्त' ग्रहण इसलिये है कि 'ओयते,[3] लौयमानिः[4]' यहां यकारादि प्रत्ययनिमित्त एच् नहीं है।

१८५—क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥ ६। १। ८० ॥

यत् प्रत्यय परे हो तो शक्यार्थ में क्षि, जि. धातुओं के एकार को

अय् आदेश निपातन किया है। क्षेतुं शक्यः क्षय्यः[1], जेतुं शक्यो जय्यः[1]। 'शक्यार्थे' इसलिये कहा है कि 'क्षेयं[1] पापम्' इत्यादि में अय् नहीं होवे।

१८६–क्रय्यस्तदर्थे ॥ ६ । १ । ८१॥

क्री धातु का अर्थ जो बेचने का है वह वाच्य हो और यत् प्रत्यय परे हो तो क्री धातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है। क्रय्यो[2] गौः, क्रय्यः कम्बलः। 'तदर्थे' इसलिये कहा है कि 'क्रेयं धान्यम्' यहां द्रव्यवाच्य विक्रेयार्थ में न होवे[3]।

१८७–भय्यप्रवय्ये च छन्दसि ॥ ६ । १ । ८२ ॥

यत् प्रत्यय परे हो तो वेद विषय में 'भी' और प्रपूर्वक 'वी' धातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है। भय्यम्[4], प्रवय्या[4]। यहां भय्य शब्द में अपादान में प्रत्यय है और प्रवय्या स्त्रीलिङ्ग में नियत है। वेद में इसलिये कहा है कि 'भेयम्[4], प्रवेयम्[4]' यहां न हो।

१८८–वा०–ह्रदय्या आप उपसंख्यानम् ॥

महा० ६ । १ । ८२ ॥

जल अर्थ में ह्रद शब्द के एकार को यत् प्रत्यय के परे अय् आदेश हो ह्रदय्या[5] आपः।

॥ इति स्वरसन्धिः ॥

---

१. क्षि, जि धातु से 'अचो यत्' (आ० ९२१) से यत्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (आ० २१) से गुण—क्षे+य, जे+य। २. क्री धातु से पूर्व की तरह यत् और गुण—क्रे+य। ३. जो द्रव्य दुकान में बेचने के लिये रखा हुआ होता है वह 'क्रय्य' कहाता है। जिस द्रव्य में बेचने की योग्यता तो हो, परन्तु बेचने के लिये न हो वह 'क्रेय' कहाता है। ४. भी और वी धातु से पूर्ववत् यत् प्रत्यय और गुण। ५. 'ह्रदे भवाः' इस अर्थ में सप्तम्यन्त ह्रद शब्द से 'भवे छन्दसि' (अ० ४।४।११०) से यत्, छान्दसत्वात् सप्तमी का अलुक्—ह्रदे+यत्, अयादेश, स्त्रीलिङ्ग में टाप्-ह्रदय्या।

अथ हलस्वरसन्धिः ।

१८९—चोः कुः ॥ ८ । २ । ३० ॥

पदान्त में वर्तमान चवर्ग के स्थान में कवर्ग आदेश हो जाता है, और झल् परे हो तो भी। इससे वाच् आदि चकारान्त शब्दों को ककारादेश हो जाता है। जैसे—वाच्+सु=वाक्, वाग्, इत्यादि।

१९०—झलां जशोऽन्ते ॥ ८ । २ । ३९ ॥

पदान्त में झलों के स्थान में जश् आदेश हों। देखो जहां चकारान्त शब्दों को ककार होता है उनसे उत्तरपद के आदि में स्वर हों तो ककार को गकार हो जाता है। जैसे—वाक्+अग्र=वागग्र। और चकार के 'अच्+अन्तः=अजन्तः'[1] इत्यादि, यहां जकार हो जाता है। प्रष्ठवाह्, दित्यवाह्, तुरासाह्, इत्यादि हकारान्त शब्दों से परे स्वर हों तो इनको जश् आदेश हो जाता है। जैसे—प्रष्ठवाह्+इह=प्रष्ठवाडिह। षट्+अन्तः=षडन्तः। विट्+इह=विडिह, सम्राट्+अग्र=सम्राडग्र, विराट्+ईहते=विराडीहते, इत्यादि टकारान्त शब्दों के स्थान में डकारान्त हो जाते हैं। जो धकारान्त शब्दों से परे स्वर हो तो दकार हो जाता है। जैसे—समिध्+आधा-

---

1. यहां पर 'चोः कुः' और 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र से 'वागग्र' के समान 'अगन्त' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु 'वृद्धिरादैजदेङ् गुणः' (अ० १ । १ । १६, १०) 'माऽसहौ' (अ० १ । १ । २५) इत्यादि सूत्रों में कुत्व का अभाव होने से तथा वैयाकरणों के 'अजन्त' आदि व्यवहार से प्रतीत होता है कि अजादि उत्तरपद परे रहने पर अच् एच् ऐच् आदि चकारान्त प्रत्याहारों को कुत्वादेश नहीं होता।

नम् = समिद्धाधानम्, इत्यादि। जो तकारान्त शब्दों से परे अजादि उत्तरपद हों तो तकार को दकार हो जाता है। जैसे—विद्युत्+आपतनम् = विद्युदापतनम्, विद्युत्+इह = विद्युदिह। पकारान्त तथा भकारान्त शब्दों के अन्त में अजादि उत्तरपद परे हों तो बकार आदेश हो जाता है। जैसे—(पकारान्त—) अप्+अयनम् = अब्यनम्, तिप्+अन्तः = तिबन्तः, सुप्+अन्तः = सुबन्तः, इत्यादि। भकारान्त—अनुष्टुभ्+एव = अनुष्टुबेव, त्रिष्टुभ्+आदि = त्रिष्टुबादि। जो इनसे भिन्न अन्य वर्ण पदान्त में आवेंगे तो उनमें कुछ विशेष विकार न होगा। जैसे—मय्+आदि = मयादि, सम्+अवैति = समवैति, प्रातर्+अत्र = प्रातरत्र, पुनर्+इह = पुनरिह, इत्यादि।

॥ इति हलस्वरसन्धिः ॥

अथ हल्सन्धिः



अब इसके आगे पदान्त अथवा अपदान्त नकार मकार वा अन्य वर्णों को जिस जिस वर्ण के परे जो-जो कार्य होते हैं उस उस को लिखते हैं—

१६१—मोऽनुस्वारः ॥ ८ । ३ । २३ ॥

जो हल् परे हो तो पदान्त मकार को अनुस्वार होता है। जैसे—ग्रामम्+याति=ग्रामं याति। यहां पदान्त की अनुवृत्ति इसलिये है कि गम्यते' यहां अनुस्वार न हुआ।

१६२—नश्चापदान्तस्य झलि ॥ ८ । ३ । २४ ॥

जो झल् प्रत्याहार परे हो तो अपदान्त अर्थात् एक पद में नकार और मकार को अनुस्वार होता है। जैसे—मीमान्+सते=मीमांसते, पुम्+सु—पुंसु, इत्यादि।

इस विषय में यह समझना चाहिये कि श, ष, स, ह, इतने वर्णों के परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है, परन्तु वैदिक प्रयोगों में श, ष, स, र, ह इन वर्णों के पर अनुस्वार को ७ आदेश होता है,।क्योंकि— रेफोष्मणा सवर्णा न सन्ति। महा० १ । १ । २ । इस ज्ञापक से सवर्णादेश का निषेध होकर असवर्णादेश होता है। इस में भी जो कुछ विशेष होगा वह आगे लिखेंगे। 'झल्' प्रत्याहार ग्रहण इसलिये है कि 'मन्यते' यहां न हुआ। और झल् प्रत्याहार में [श, ष, स, र, ह इनको छोड़कर] बाक़ी जो वर्ण बचे हैं उनके परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार होके जो कुछ विकार होता है वह आगे लिखेंगे।

१६३—मो राजि समः क्वौ ॥ ८ । ३ । २५ ॥

क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे हो तो सम् उपसर्ग के मकार को मकार ही आदेश हो[1]। जैसे-सम्+राट्=सम्राट्, सम्+राज्यम्—साम्राज्यम्। यहां 'सम्' ग्रहण इसलिये है कि 'स्वराट्' इत्यादि में नहीं होता। क्विप् प्रत्ययान्त ग्रहण इसलिये है कि 'संराजितव्यम्, संराजितुम्' यहां न हुआ।

१६४—हे मपरे वा ॥ ८। ३। २६ ॥

जिससे परे मकार हो ऐसे हकार के परे पदान्त मकार को मकार आदेश विकल्प करके होता है। द्वितीय पक्ष में मकार को अनुस्वार होता है। जैसे—किं ह्मलयति, किम्ह्मलयति, कथं ह्मलयति, कथम्ह्मलयति, इत्यादि। यहां मपर हकार का ग्रहण इसलिये है कि 'किं हसति' इत्यादि में न हो।

१६५—वा०—यवलपरे यवला वा ॥

महा० ८। ३। २६ ॥

जिससे परे य, व, ल वर्ण हों ऐसा हकार परे हो तो पदान्त मकार को सानुनासिक य, व, ल विकल्प करके होते हैं। पक्ष में अनुस्वार हो जाता है। य—कियँ ह्योऽभवत्, किं ह्योऽभवत्। व—किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। ल—किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति, इत्यादि। प्रत्युदाहरण जैसे—किं हर्षसि, इत्यादि में न हुआ।

१६६—नपरे नः ॥ ८। ३। २७ ॥

जो हकार से परे नकार हो तो मकार को विकल्प करके नकार आदेश होता है। पक्ष में अनुस्वार होगा। जैसे—किन्ह्नुते, किं ह्नुते, कथन्ह्नुते, कथं ह्नुते इत्यादि। नपर हकार इसलिये कहा है कि 'किं हृदय तेऽस्ति' यहां न हुआ।

---

१ मकार को मकारादेश का विधान अनुस्वार की निवृत्ति के लिये है।

अब पदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो के जो-जो विशेष [कार्य] होता है सो लिखते हैं—

१९७—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥ ८।४।५७॥

जो यय् प्रत्याहार परे हो तो अपदान्त अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होता है। इससे उत्तरसूत्र में पदान्तग्रहण के ज्ञापक से यह सूत्र अपदान्त के लिये है। जैसे—अं+कः=अङ्कः, अं+चनम्=अञ्चनम्, वं+टनम्—वण्टनम्, अं+तिः—अन्तिः, ष+ड—षण्डः, क+पनम्—कम्पनम्, इत्यादि। परसवर्ण अर्थात् जिस वर्ग का अक्षर परे हो उसी वर्ग का अनुनासिक वर्ण अनुस्वार के स्थान में हो जाता है। जैसे—कवर्ग के परे पूर्व अनुस्वार के स्थान में ङकार ही होगा, इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

१९८—वा पदान्तस्य ॥ ८।४।५८॥

यय् प्रत्याहार के परे पदान्त अनुस्वार को पर का सवर्ण आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—कटङ्करोति, कटं करोति; बालञ्चेतयति, बालं चेतयति; ग्रामण्टीकते, ग्रामं टीकते; नदीन्तरति, नदीं तरति; प्रजाम्पिपर्त्ति, प्रजां पिपर्त्ति; सँय्यन्ता, संयन्ता; सँव्वत्सरः; संवत्सरः; यँल्लोकम्, यं लोकम्, इत्यादि।

॥ इत्यनुस्वारप्रकरणम् ॥

१९९—तोर्लि ॥ ८।४।५९॥

लकार परे हो तो तवर्ग के स्थान में परसवर्ण हो जावे। जैसे—अग्निचित्+लुनाति=अग्निचिल्लुनाति, विद्युत्+लेलायते—विद्युल्लेलायते, भवान्+लक्षयति=भवाँल्लक्षयति, इत्यादि।

२००—झयो होऽन्यतरस्याम् ॥ ८।४।६२॥

शर् प्रत्याहार परे हो तो पदान्त ङकार णकार को विकल्प करके कुक् टुक् का आगम यथाक्रम से होता है। जैसे—उदङ्क्शेते, उदङ् शेते, उदङ्क्षष्ठः, उदङ् षष्ठः, उदङ्क्सुनोति, उदङ् सुनोति; प्रवण्ट्शेते, प्रवण् शेते; प्रवण्ट्ष्वष्कते, प्रवण् ष्वष्कते; प्रवण्ट्सरति, प्रवण् सरति, इत्यादि।

२०१—डः सि धुट् ॥ ८ । ३ । २९ ॥

जो पदान्त डकार से परे सकारादि उत्तरपद हो तो उसको विकल्प करके धुट् का आगम होता है। जैसे—श्वलिट्त्सीयते, श्वलिड् सीयते, मधुलिट्त्सीयते, मधुलिट् सीयते, इत्यादि।

२०२—नश्च ॥ ८ । ३ । ३० ॥

जो पदान्त नकार से परे सकारादि उत्तरपद हो तो उसको धुट् का आगम विकल्प करके होता है। भवान्त्सनोति, भवान् सनोति, इत्यादि।

२०३—शि तुक् ॥ ८ । ३ । ३१ ॥

जो पदान्त नकार से परे शकारादि उत्तरपद हो तो उसको विकल्प करके तुक् का आगम होता है। जैसे—भवान्च्छेते, भवाञ्छेते, इत्यादि।

२०४—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ॥ ८ । ३ । ३२ ॥

ह्रस्व से परे जो पदान्त ङम् प्रत्याहार उससे परे अजादि उत्तरपद को नित्य ही ङमुट् का आगम होता है अर्थात् ङकार से ङुट्, णकार से णुट्, नकार से परे नुट् का आगम होता है। जैसे—तिङ्+अतिङः=तिङ्ङतिङः, उदङ्ङास्ते, प्रवण्णास्ते, प्रवण्णवोचत्, कुर्वन्नास्ते, तस्मिन्+इति=तस्मिन्निति, इत्यादि।

२०५—मय उञो वो वा ॥ ८ । ३ । ३३ ॥

जो मय् प्रत्याहार से परे उञ् अव्यय उसको अजादि उत्तरपद परे हो तो विकल्प करके वकार आदेश होता है। जैसे-शम्-उ-अस्तु, शम्वस्तु, तद्-उ-अस्य, तद्वस्य, किम्-उ-आवपनम, किम्वावपनम्, इत्यादि।

अब इसके आगे तुक् का आगम लिखते हैं—

२०६—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ ६ । १ । ७० ॥

पूर्व ह्रस्व को तुक् का आगम होता है जो पित् कृत् परे हो तो। पुरयकृत्, अग्निचित्, इत्यादि।

२०७—संहितायाम् ॥ ६ । १ । ७१ ॥

यह अधिकार सूत्र है। उसके आगे जो-जो कहेंगे सो सो संहिता विषय में समझना।

२०८—छे च ॥ ६ । १ । ७२ ॥

जो ह्रस्व से परे छकार हो तो पदान्त और अपदान्त में भी उसको तुक् का आगम होता है[1]। जैसे—इ+छति = इच्छति, गच्छति, स्वच्छन्द, देवदत्तच्छत्रम्, इत्यादि।

२०९—आङ्माङोश्च ॥ ६ । १ । ७३ ॥

जो आङ् और माङ् से परे छकार हो तो उसको तुक् का आगम होता है। ईषदर्थ, क्रियायोग, मर्यादा, अभिविधि इन अर्थों में आकार ङित् आता है। ईषदर्थ—आ+छाया—आच्छाया।

---

१. इस अर्थ का स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये—पदान्त और अपदान्त में वर्तमान जो ह्रस्व उसको तुक् का आगम होता है छकार परे रहने पर।

क्रियायोग—आ + छादनम् = आच्छादनम् । मर्यादा—आ + छायायाः = आच्छायायाः । अभिविधि—आ + छायम् = आच्छायम् । मा + छैत्सीत् = माच्छैत्सीत्, माच्छिदत्, इत्यादि ।

२१०—दीर्घात् ॥ ६ । १ । ७४ ॥

जो अपदान्त अर्थात् एकपद में दीर्घ से परे छकार हो तो उसको तुक् का आगम होता है । जैसे—ह्री + छति = ह्रीच्छति, म्लेच्छति इत्यादि ।

२११—पदान्ताद्वा ॥ ६ । १ । ७५ ॥

जो पदान्त दीर्घ से परे छकारादि उत्तरपद हो तो उसको तुक् का आगम विकल्प करके होता है । जैसे—गायत्री छन्दः, गायत्रीच्छन्दः, इत्यादि ।

२१२—वा०—विश्वजनादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ महा० ६ । १ । ७५ ॥

विश्वजन आदि शब्दों से परे छकार को विकल्प करके तुक् का आगम होता है । पूर्व 'छे च' इस सूत्र से ह्रस्व से परे नित्य तुक् प्राप्त था, उसका विकल्प यह समझना चाहिये । जैसे—विश्वजनछत्रम्, विश्वजनच्छत्रम् ।

॥ तुक् प्रकरण पूरा हुआ ॥

२१३—स्तोः श्चुना श्चुः ॥ ८ । ४ । ३९ ॥

सकार और तवर्ग को शकार और चवर्ग के साथ क्रम से शकार और चवर्ग होते हैं । जैसे—विष्णुमित्रस् + शोभते = विष्णुमित्रश्शोभते । सकार का चवर्ग के साथ—जैसे—देवदत्तस् + चलति = देवदत्तश्चलति, इत्यादि । तवर्ग का शकार के साथ—

जैसे—अग्निचित् + शेते = अग्निचिच्छते, इत्यादि । तवर्ग का चवर्ग के साथ—जैसे—अग्निचित् + छादयति = अग्निचिच्छादयति, इत्यादि अनेक उदाहरण हैं।

२१४—ष्टुना ष्टुः ॥ ८ । ४ । ४० ॥

सकार और तवर्ग का षकार और टवर्ग के साथ षकार और टवर्ग होते हैं। जैसे—पुरुषस् + षष्ठ = पुरुषष्षष्ठ इत्यादि, पुरुषस् + टीकते = पुरुषष्टीकते इत्यादि। टवर्ग का सकार के साथ—शूद्रस् + टलति = शूद्रष्टलति, इत्यादि। तवर्ग का टवर्ग के साथ—यापित् + टलति = यापिट्टलति, इत्यादि।

२१५—न पदान्ताट्टोरनाम् ॥ ८ । ४ । ४१ ॥

अनाम् अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ के पदान्त टवर्ग से उत्तर सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग आदेश न हों। जैसे—षट् सन्ति, मधुलिट् तरति, इत्यादि।

जो सूत्रकार ने आम् अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ के ष्टुत्व का निषेध किया है उसी में वार्त्तिककार कहते हैं कि—

२१६—वा०—अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् ॥ महा० ८ । ४ । ४१ ॥

नाम् के निषेध के साथ नवति और नगरी शब्द का भी निषेध कहना चाहिये। जैसे—षट् + नाम् = षण्णाम्, षट् + नवति = षण्णवति, षट् + नगर्य = षण्णगर्य, इत्यादि। सूत्र में 'पदान्त' ग्रहण इसलिये है कि ईड् + ते = ईट्टे यहां टवर्ग आदेश का निषेध न हुआ। टवर्ग से परे इसलिये है कि सिप् + तमम् = सिप्तमम्, सर्पिप् + तमम् = सर्पिष्टमम्, यहां ष्टुत्व हो ही गया।

२१७—तोः षि ॥ ८ । ४ । ४२ ॥

पकार के परे रहने पर तवर्ग को टवर्ग आदेश न हो। जैसे—योषित्+पराढः = योषित्पराढः, इत्यादि।

२१८—शात् ॥ ८ । ४ । ४३ ॥

शकार से परे तवर्ग को चवर्ग आदेश न हो। जैसे—विश्नः, प्रश्नः। यहां ञकार न हुआ।

२१९—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ॥८।४।४४॥

जो अनुनासिकादि उत्तरपद परे हो तो पदान्त यर् को अनुनासिक आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—वाक्+नमति = वाङ्नमति, वाग्नमति। जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं हुआ वहां पदान्त में जश् आदेश होता है। त्रिष्टुभ्+नाम = [त्रिष्टुम्नाम,] त्रिष्टुब्नाम। यहां पदान्तग्रहण इसलिये है कि 'वघ्नोति, क्षुभ्नाति, रुक्मम्' इत्यादि उदाहरणों में नहीं होता।

२२०—वा०—यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्यं वचनम् ॥ महा० ८ । ४ । ४५ ॥

अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो तो यर् को अनुनासिक नित्य ही होता है, भाषा अर्थात् लौकिक प्रयोग विषय में। जैसे—प्राङ्मयम्, चिन्मयम्, इत्यादि। यहां 'भाषा' ग्रहण इसलिये है कि वेद में पूर्ववत् दो ही प्रयोग हों। जैसे—वाङ्मयम्, वाग्मयम्, इत्यादि।

२२१—अचो रहाभ्यां द्वे ॥ ८ । ४ । ४५ ॥

अपदान्त में अच् से उत्तर जो रेफ हकार और उनसे उत्तर जो यर् हो तो उनको विकल्प करके द्वित्व होता है। जैसे—कार्+यम् = कार्य्यम् कार्यम्; हर्य्यनुभवः, हर्यनुभवः; ब्रह्म्म, ब्रह्म;

अपह्न्नुतिः, अपह्नुतिः, इत्यादि। यहां अच् से परे इसलिये कहा है कि—'रातिह्लेलयति' यहां द्विर्वचन न हुआ [1]।

२२२—अनचि च ॥ ८। ४। ४६॥

जो अच् से परे और [अनच् अर्थात्] हल् के पूर्व यर् प्रत्याहार हो उसको विकल्प करके द्वित्व होता है। जैसे—दधि+अत्र = दद्ध्यत्र, दध्यत्र इत्यादि। यहां द्वित्व होकर (२२४) सूत्र से पूर्व धकार को दकार होगया। 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि 'स्मितम् स्तुतम्' इत्यादि में न हो।

२२३—वा०—द्विर्वचने यणो मयः॥

महा० ८। ४। ४६॥

इस वार्त्तिक के दो अर्थ हैं [2], एक तो—यण् से परे मय् को [विकल्प करके] द्वित्व होता है और दूसरा—मय् से परे यण् को [विकल्प करके] द्वित्व हो। जहां यण् से परे मय् को द्वित्व होता है वहां, 'वल्क्का' [वल्का;] वल्म्मीकम्, [वल्मीकम्] इत्यादि उदाहरण बनते हैं। और जहां मय् से परे यण् को द्वित्व होता है वहां, 'दध्य्यत्र, [दध्यत्र;] मध्व्वत्र, [मध्वत्र] इत्यादि उदाहरण बनते हैं।

२२४—वा०—शरः खयः॥ महा० ८। ४। ४६॥

१. इस प्रत्युदाहरण में 'रेफ' अच् से उत्तर है, परन्तु उससे उत्तर 'यर्' नहीं है 'ह' से उत्तर 'यर्' यकार है परन्तु हकार अच् से उत्तर नहीं है अतः यकार को द्विर्वचन नहीं हुआ। २. दो अर्थ होने का कारण यह है कि कई आचार्य 'यणः' में पञ्चमी और 'मयः' में षष्ठी विभक्ति मानते हैं। अन्य आचार्य 'मयः' में पञ्चमी और 'यणः' में षष्ठी विभक्ति मानते हैं।

इस वार्त्तिक में भी दो मत है [1], एक तो—शर् से परे खय् को [विकल्प करके] द्विर्वचन होता है और दूसरा—खय् से परे शर् को [विकल्प करके] द्विर्वचन हो। [प्रथम अर्थ में—] जैसे— स्स्थाली, [स्थाली;] स्स्थाता, [स्थाता,] स्स्फोटः, [स्फोटः;] स्स्तोतः [स्तोतः;] श्च्युयोतति, [श्च्योतति, इत्यादि। द्वितीय अर्थ में—जैसे—] संवत्स्सरः, [संवत्सरः]; क्ष्षीरम्, [क्षीरम्;] अप्स्सराः, [अप्सराः] इत्यादि।

जो पुत्र शब्द से परे हत और जग्ध शब्द हो तो उसको विकल्प करके द्विर्वचन होता है। जैसे—पुत्त्रहती, पुत्रहती, पुत्त्रजग्धी, पुत्रजग्धी, इत्यादि।

२२९—वा०-चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः ॥ महा० ८ । ४ । ४७ ॥

जो शर् प्रत्याहार के परे चय् प्रत्याहार हो तो उसके स्थान में वर्गों के द्वितीयवर्ण आदेश हो जाते हैं, यह पौष्करसादि आचार्य का मत है। [जैसे—] वत्शाता—वथ्शाता, वत्सरः—वथ्सरः, अप्सराः—अफ्सराः, इत्यादि।

२३०—शरोऽचि ॥ ८ । ४ । ४८ ॥

जो अच् परे हो तो शर् प्रत्याहार को द्विर्वचन न हो। [जैसे—] दर्शनम्, कर्षति, इत्यादि। यहां 'अच्' ग्रहण इसलिये है कि 'दश्श्यते' इत्यादि में निषेध न हो।

२३१—त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥ ८ । ४ । ४९ ॥

जहां तीन आदि वर्ण इकट्ठे हों वहां शाकटायन आचार्य के मत से द्विर्वचन न हो। जैसे—इन्द्रः, चन्द्रः, उष्ट्रः, राष्ट्रम्, इत्यादि।

२३२—सर्वत्र शाकल्यस्य ॥ ८ । ४ । ५० ॥

जहां-जहां द्विर्वचन कह आये हैं वहां-वहां शाकल्य आचार्य के मत से [द्विर्वचन] न होना चाहिये। जैसे—अर्कः, ब्रह्मा, दध्यत्र, मध्वत्र, इत्यादि।

२३३—दीर्घादाचार्याणाम् ॥ ८ । ४ । ५१ ॥

सब आचार्यों[1] के मत से दीर्घ से परे यर् को द्विर्वचन न होना चाहिये। जैसे—दात्रम्, पात्रम्, स्तोत्रम् इत्यादि।

२३४—झलां जश् झशि ॥ ८। ४। ५२ ॥

जो झश् प्रत्याहार परे हो तो झलों के स्थान में जश् आदेश होता है। जैसे—लभ+धा = लब्धा, दोघ्+धा = दोग्धा, दद्ध्वम्, इत्यादि। यहां 'झश्' ग्रहण इसलिये है कि 'दत्तः, आत्थ' इत्यादिकों में न हो।

२३५—खरि च ॥ ८। ४। ५४ ॥

जो खर् प्रत्याहार परे हो तो झलों को चर् आदेश हों। जैसे—भेद्+ता = भेत्ता, लिभ्+सा = लिप्सा, युयुध्+सते = युयुत्सते इत्यादि।

२३६—उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥ ८।४।६०॥

उद् से परे स्था और स्तम्भ धातु के सकार के स्थान में पूर्व का सवर्णी आदेश होता है। जैसे—उद्+स्थानम् = उत्थानम्। यहां एक थकार को पूर्व सूत्र (२३५) से तकार हो जाता है। उत्थाता, उत्थातुम्, उत्थातव्यम्। उद्+स्तम्भनम्—उत्तम्भनम्, उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्, उत्तम्भितव्यम् इत्यादि। 'स्थास्तम्भ' का ग्रहण इसलिये है कि 'उद्+स्कभ्नोति—उत्स्कभ्नोति' इत्यादि में न हुआ।

२३७—वा०—उदः पूर्वत्वे स्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ महा० ८। ४। ६० ॥

---

१. कई व्याख्याकार बहुवचनान्त 'आचार्याणाम्' पद से पाणिनि के आचार्य का ग्रहण मानते हैं। क्षीरतरङ्गिणी में 'आदाचार्याणाम्' (क्रमाङ्क २१) की टिप्पणी में लिखा है—'यहां आचार्य शब्द के बहुवचन निर्देश से पाणिनि के आचार्य का मत समझना चाहिये'।

वैदिक प्रयोगों में उद् उपसर्ग से परे स्कन्द धातु को पूर्वसवर्ण आदेश हो। जैसे—अग्ने दूरमुत्कन्दः। यहां 'उद्+स्कन्द' सकार को पूर्वसवर्ण तकार होकर 'उत्कन्दः' ऐसा होता है।

२३८—वा०-रोगे चेति वक्तव्यम् ॥

महा० ८।४।६०॥

रोग अर्थ में भी [उद् उपसर्ग से परे] स्कन्द को पूर्व सवर्ण आदेश हो जावे। जैसे—उत्कन्दो रोगः।

२३९—झयो होऽन्यतरस्याम् ॥ ८।४।६१॥

झय् प्रत्याहार से परे हकार को पूर्वसवर्ण आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—कवर्ग से परे हो तो घकार—वाग् हसति, वाग्घसति। टवर्ग से परे हो तो ढकार—लघड् हन्ता, लघड्ढन्ता। तवर्ग से परे हो तो धकार—अग्निचित् हसति, अग्निचिद्धसति। पवर्ग से परे हो तो भकार होता है—त्रिष्टुप् हसति, त्रिष्टुब्भसति इत्यादि। यहां 'झय्' ग्रहण इसलिये है कि 'भवान् हसति' इत्यादि में न हो।

२४०—शश्छोऽटि ॥ ८।४।६२॥

जो झय् से परे और अट् प्रत्याहार के पूर्व शकार हो तो उसको छकार आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—वाक् छेते, वाक् शेते, मधुलिट् छेते, मधुलिट् शेते, त्रिष्टुप् छेते, त्रिष्टुप् शेते इत्यादि।

२४१—वा०-छत्वममीति वक्तव्यम् ॥

महा० ८।४।६२॥

जो अम् प्रत्याहार परे हो तो भी झय् से परे शकार को छकार आदेश होता है। जैसे—तत् श्लोकेन, तच्छ्लोकेन, तत् श्मश्रु तच्छ्मश्रु इत्यादि।

२४२—हलो यमां यमि लोपः ॥ ८ । ४ । ६३ ॥

हल् से परे यम् का लोप विकल्प करके होता है जो यम् परे हो तो। जैसे—शय्य्या[1]। यहां तीन यकार हैं इन में से मध्यस्थ यकार का लोप होकर—शय्या। दध्य्यत्र[2] यहां भी वैकल्पिक लोप होकर दध्यत्र इत्यादि। 'हल्' ग्रहण इसलिये है कि 'वित्तम्' यहां न हुआ। यम् का लोप इसलिये कहा है कि—'अग्निः' यहां लोप न हुआ। और यम् परे इसलिये है कि 'शार्ङ्गम्' यहां न हुआ। [यहां यम् से यथासंख्य यम् परे रहने पर लोप होता है, इसलिये 'माहात्म्य' में मकार का लोप नहीं होता]।

२४३—झरो झरि सवर्णे ॥ ८ । ४ । ६४ ॥

जो सवर्णी झर् परे हो तो हल् से परे झर् का लोप विकल्प करके होता है। जैसे—प्रत्त्त्तम्[3], अवत्त्त्तम्[3]। यहां चार तकार होते हैं। तीन प्रथम ही हैं और एक पीछे द्विर्वचन होने से हो जाता है, उन में से एक वा दो का लोप होकर—प्रत्त्तम्, प्रत्तम्; अवत्त्तम्, अवत्तम्। उत्थानम्[4] यहां भी एक तकार का लोप विकल्प करके हो जाता है—उथानम् इत्यादि।

॥ इति हल्सन्धिः ॥

---

१. यहां 'अनचि च' (सन्धि० २२२) से द्विर्वचन होता है।
२. यहां 'द्विर्वचनेऽचि' (सन्धि० २२३) से द्वित्व होता है।
३. यहां प्र और अव पूर्वक दा धातु को क्त परे रहने पर 'अच उपसर्गात्तः' (अा० १२२३) से तकारादेश होता है—प्र+त्+द्+त। दकार को 'खरि च' (सन्धि० २३५) से तकार होकर—प्रत्त्त। पुनः 'अनचि च' (सन्धि० २२२) से द्वितीय तकार को द्विर्वचन होकर चार तकार होते हैं। ४. उद्+स्थानम्। सकार को थकार और थकार को तकार होता है।

अथ अयोगवाहसन्धिः



अब इसके आगे अयोगवाहसन्धि का प्रकरण लिखा जाता है—

२४४—ससजुषो रुः ॥ ८ । २ । ६६ ॥

जो पदान्त सकार और सजुष् शब्द का मूर्धन्य षकार है उसको रु आदेश होता है। पदान्त दो प्रकार का होता है, एक तो अवसान में अर्थात् जिससे आगे कोई पद वा अक्षर न हो और दूसरा उत्तरपद के परे भी पदान्त कहाता है। इसमें से [जो] अवसान में सकार को रु होता है उसका विषय नामिक पुस्तक में आवेगा। यह अयोगवाह [सन्धि का] प्रकरण है, यहां शब्दों की मिलावट दिखलाई जाती है। यह रु आदेश सब दन्त्य सकारान्त शब्दों को होता है, इसलिये सजुष् शब्द के मूर्धन्य षकार को रु विधान किया है। पदान्त सकार भी दो प्रकार का होता है, एक स्वरान्त शब्दों से विभक्ति का सकार और दूसरा जो प्रथम से ही सकारान्त होते हैं। विभक्ति से सकारान्त—जैसे—पुरुष-सु, इत्यादि। प्रथम से सकारान्त—जैसे-मनस्, पयस्, धनुष्, हविष् इत्यादि।

अब इस पदान्त सकार को रु आदेश होकर पीछे क्या-क्या कार्य होता है सो क्रम से लिखते हैं—

२४५—एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि॥ ६ । १ । १३० ॥

जो एतद् और तद् शब्द ककाररहित और नञ्समास में वर्तमान नहीं हैं उन के सु का लोप होता है हल् प्रत्याहार परे हो तो। जैसे—स पठति, एष गच्छति इत्यादि। यहां ककार का

निषेध इसलिये है कि 'एषको गच्छति, सको हसते' यहां न हुआ। नञ्समास में निषेध इसलिये है कि 'अनेषो ददाति, असो याति' इत्यादि में न हो। 'हल्' ग्रहण इसलिये है कि 'एषस्+अत्र = एषोऽत्र, सस्+अत्र = सोऽत्र' यहां 'सु' का लोप न हो।

२४६—स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥ ६ । १ । १३१॥

वैदिक प्रयोगों में हल् प्रत्याहार परे हो तो त्यद् शब्द के सु का लोप बहुल करके हो। जैसे–स्य ते शुमां इन्द्र सोमः। बहुल ग्रहण से यहां नहीं भी होता यत्र स्यो निपतेत्। यहां 'छन्दसि' इसलिये कहा है कि लोक में न हो—स्यो हसति, स्यो धावति इत्यादि।

२४७—सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् ॥ ६ । १ । १३२ ॥

जो अजादि उत्तरपद परे हो तो तद् शब्द के सु का लोप होता है, परन्तु लोप होने से छन्दों के पाद की पूर्त्ति होती हो तो। जैसे–सेमन्नो अध्वरं यज। यहां जब 'सस्+इमम्' पद के परे लोप नहीं पाया था सो लोप होकर गुण एकादेश हो गया, तब 'सेमम्' ऐसा हुआ, जो न होता तो नव अक्षरों के होने से पाद भी पूर्ण नहीं होता। लोक में–सैष शूद्रो महाबली। यहां भी 'सस्+एषस्' इस अवस्था में विभक्ति के सकार का लोप होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है। यहां 'पादपूरण' इसलिये है कि–'स इव व्याघ्रो भवेत्' यहां न हो।

अब इन दो सूत्रों से जहां सकार का लोप नहीं होता वहां स्वरादि उत्तरपदों के परे रु को क्या-क्या होता है सो क्रम से लिखते हैं—

२४८—अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥ ६ । १ । ११३॥

जो अप्लुत ह्रस्व अकार से अप्लुत [ह्रस्व] अकार परे हो तो रु के स्थान में उकार आदेश होता है। जैसे–पुरुषर्+अत्र = पुरुषोऽत्र, मनर्+अर्पय = मनोऽर्पय, इत्यादि। अप्लुत से परे इसलिये है कि 'सुस्रोता'३ अत्र त्वमसि' यहां उत्वादेश न हो। अप्लुत परे हो इसलिये है कि 'तिष्ठतु पय आ'३ग्निदत्त' यहां न हो।

अब जहां अवर्णान्त वा अन्य स्वरान्त शब्दों से परे 'रु' हो और उत्तरपद में अश् प्रत्याहार हो तो क्या होना चाहिये इस विषय में लिखते हैं—

२४६—भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ॥ ८। ३। १७ ॥

जो भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्णपूर्वक रु से परे अश् प्रत्याहार हो तो रु के स्थान में 'य्' आदेश हो जाता है। जैसे– भोय्+अत्र = भो अत्र, भगोय्+इह = भगो इह, अघोय्+इत्तिष्ठ = अघो इत्तिष्ठ। अकार से परे आकार के पूर्व—पुरुषय्+आगच्छति = पुरुष आगच्छति। आकार से परे अकार के पूर्व— ब्राह्मणाय्+अविदु = ब्राह्मणा अविदु।

अब जो रु के स्थान में 'य्' आदेश हुआ है इसका क्या होना चाहिय सो लिखते हैं—

२५०—व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥ ८। ३। १८ ॥

जो अवर्ण से परे यकार वकार है उसको लघुप्रयत्नतर आदेश हो, शाकटायन आचार्य के मत में। जिसके उच्चारण में बहुत थोड़ा यत्न पड़े वह लघुप्रयत्नतर कहाता है। 'एचोऽयवायावः'[1] इस

१ देखो पृष्ठ ११, टि० १। २. सन्धि० १८०।

उक्त सूत्र से पदान्त में जो अय् आदि आदेश होते हैं वे तथा जो पूर्व सूत्र से रु के स्थान में यकारादेश होता है उन सब यकार वकारों का यहां ग्रहण है। पुरुषयागच्छति, पुरुषयिह, ब्राह्मणायविदुः इत्यादि। अय् [आदि] आदेश—के आसते=कयासते, वायो आयाहि=वायवायाहि, श्रियै उद्यतः=श्रियायुद्यतः, असौ आदित्यः=असावादित्यः। जो यह लघुप्रयत्नतर आदेश होता है सो उदाहरणों में बहुत कम आता है।

अब जहां लघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता वहां क्या होता है, सो दिखलाते हैं—

२५१—लोपः शाकल्यस्य ॥ ८। ३। १९ ॥

जो अवर्ण से परे और अश् प्रत्याहार के पूर्व पदान्त यकार वकार हो तो उनका विकल्प करके लोप होता है, शाकल्य आचार्य के मत में। जैसे-पुरुषय् आगच्छति=पुरुष आगच्छति, पुरुषयागच्छति; ब्राह्मणाय् अविदुः=ब्राह्मणा अविदुः, ब्राह्मणायविदुः; कय् आसते=क आसते, कयासते; गृहय् आसते=गृह आसते, गृहयासते; वायव् आयाहि=वाय आयाहि, वायवायाहि; पादाव् उन्येते=पादा उन्येते, पादावुन्येते; हरय् एहि=हर एहि, हरयेहि; विष्णव् इह=विष्ण इह, विष्णविह इत्यादि।

२५२—ओतो गार्ग्यस्य ॥ ८। ३। २० ॥

अश् प्रत्याहार परे हो तो ओकार से परे जो रु को य् होता है उसका नित्य ही लोप होवे। गार्ग्य का ग्रहण पूजार्थ है। भोय्+अत्र=भो अत्र, भगोय्+इह=भगो इह, अघोय्+इह=अघो इह।

२५३—उञि च पदे ॥ ८। ३। २१ ॥

उञ् पद के परे अवर्ण के आगे जो पदान्त यकार वकार हों तो उनका नित्य लोप हो जावे। जैसे—सय् च प्राणस्य प्राणः = स

उ प्राणस्य प्राण, कय् उ स्विज्जायते पुन = क उ स्विज्जायते पुन, कय् उ सन्ति = क उ सन्ति, वायव् उ याति = वाय उ याति, श्रियाय् उ यतते = श्रिया उ यतते इत्यादि।

सजुष् आदि शब्दों को रु विधान कर चुके हैं। उससे उत्तरपद में जो स्वर होगा सो रेफ उस में मिल जावेगा। और जो हल् वर्ण आवेगा सो उसके ऊपर रेफ चढ जावेगा। स्वर में—सजूरत्र, सजूरिह इत्यादि। यहां रेफान्त की उपधा को पदान्त में दीर्घ आदेश हो जाता है[1]। परन्तु ऋकार के परे रेफ ऊपर ही चढ जाता है सजूर्ऋषि, वायुर्ऋच्छति इत्यादि। अग्निर्+अत्र = अग्निरत्र, अग्निर्+आनीयते = अग्निरानीयत इत्यादि।

जो अश् प्रत्याहार में स्वरों से भिन्न वर्ण रहें तो वहां क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२५४—हशि च ॥ ६ । १ । ११२ ॥

ह्रस्व अकार से परे रु के रेफ को उकार आदेश होता है जो हश् प्रत्याहार परे हो तो। जैसे—पुरुष+उ+हसति[2]। अकार के साथ गुण एकादेश होकर—पुरुषो हसति इत्यादि।

२५५—हलि सर्वेषाम् । ८ । ३ । २२ ॥

हल् प्रत्याहार के परे भो, भगो, अघो और अवर्ण जिसके पूर्वे

१ यहां 'समान' उपपद होने पर 'जुष्' धातु से क्विप् प्रत्यय होता है। 'समानस्य छन्दस्य०' (सा० २२१) सूत्र से समान को 'स' आदेश होता है। 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (ना० १५६) से उपधा को दीर्घ होता है। २ यहां 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (सन्धि० २४९) से 'य्' आदेश होता है, परन्तु उसको असिद्ध मानकर 'हशि च' से उत्व हो जाता है।

हो उस यकार का लोप सब आचार्यों के मत से हो। भोय्+हसति=भो हसति, भगोय् हसति=भगो हसति, अघोय्+हसति=अघो हसति। आकारान्त से—पुरुषाय्+हसन्ति=पुरुषा हसन्ति, बालाय्+नन्दन्ति=बाला नन्दन्ति, चन्द्रमाय्+वर्धते=चन्द्रमा वर्धते इत्यादि। हश्मात्र में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां हल्ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये है क्योंकि यहां हश् प्रत्याहार से ही प्रयोजन है।

जब इकार आदि स्वरों से परे रु हो और हश् प्रत्याहार उत्तरपद में आवे तो रु का रेफ उत्तर वर्ण के ऊपर चढ़ जाता है। जैसे—सजूर्देवेन, सजूर्याति, अग्निर्दहति, वायुर्याति, गौर्धावति इत्यादि।

हश् प्रत्याहार में रेफ भी आता है उसके परे क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२५६—रो रि ॥ ८। ३ १४ ॥

जो रेफ से परे रेफ हो तो पूर्व रेफ का लोप होता है। जैसे—मातर्+रत्नम्=मात रत्नम्, निर्+रत्नम्=नि रत्नम् गुरुर्+राजते=गुरु राजते।

अब लोप होकर क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२५७—ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥६।३।१११॥

जहां रेफ, ढकार का लोप हो वहां उस रेफ, ढकार से पूर्व अण को दीर्घ आदेश हो जावे। दीर्घ होकर—प्रातारत्नम्, नीरत्नम्, गुरू राजते इत्यादि।

२५८—ढो ढे लोपः ॥ ८ । ३ । १३ ॥

ढकार के परे ढकार का लोप हो। जैसे-लिह्+क्त+सु=

लिढ्+ढम्[1]=लिढम्, गुह्+क्त+सु=गुढ्+ढम्=गुढम्। यहां ढकार के लोप में भी पूर्व अण् को दीर्घ होकर 'लीढम्, गूढम्' इत्यादि उदाहरण होते हैं।

अब हलादि वर्णों में खर् प्रत्याहार के परे र को क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२५९—खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥८।३।१५॥

खर् प्रत्याहार के परे और अवसान में रेफ के स्थान में विसर्जनीय आदेश होता है। जैसे—नदी+जस्+स्रवन्ति = नद्यः स्रवन्ति, पुरुष+सु+शेते = पुरुषः शेते इत्यादि। स्वाभाविक रेफ—गीः स्रवति, धूः सरति।

खर् प्रत्याहारमात्र में विसर्जनीय होकर क्या-क्या होता है सो आगे लिखते हैं—

२६०—विसर्जनीयस्य सः ॥ ८ । ३ । ३४ ॥

खर् प्रत्याहार के परे विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। [यह आदेश] च, छ, ठ, थ, ट, त इन छः वर्णों [के परे होता है] खर् प्रत्याहार में जो अन्य वर्ण रहें उनके परे दूसरा कार्य कहेंगे। पुरुषस्+चेतति = पुरुषश्चेतति, सजूस्+चेतति = सजूश्चेतति, सजूस्+छिनत्ति = सजूश्छिनत्ति, वासस् = छादयति = वासश्छादयति। यहां विसर्जनीय को सकार होकर (२१३) सूत्र से श होता है। उक्तश्चकारः, पुरुषस्तरति, वक्तस्+टकारः =

1. हो ढः (आ० २०३) से धातु के हकार को ढकार 'झषस्तथोर्धोऽधः' (आ० १४१) से प्रत्यय के तकार को धकारादेश और 'ष्टुना ष्टुः' (सन्धि० २१४) से धकार को ढकार होता है—लिढ्+ढ ।

वचप्रकारः, उत्तस्+ठकारः = उच्चष्ठकारः। (२१४) सूत्र से स को ष हो गया है।

२६१—शर्परे विसर्जनीयः ॥ ८ । ३ । ३५ ॥

शर् जिससे परे हो ऐसा खर् प्रत्याहार परे हो तो पूर्व विसर्जनीय को विसर्जनीय हो। जैसे—पुरुषः त्साम्यति, पुरुषः स्सरः इत्यादि।

२६२—वा शरि ॥ ८ । ३ । ३६ ॥

शर् प्रत्याहार के परे विसर्जनीय को विकल्प करके विसर्जनीय आदेश हो। जैसे—पुरुषः शेते, पुरुषश्शेते; कवयः षट्, कवयष्षट्; धार्मिकाः सन्तु, धार्मिकास्सन्तु इत्यादि।

२६३—वा०—वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः ॥

महा० ८ । ३ । ३६ ॥

जिससे परे खर् प्रत्याहार का वर्ण हो ऐसा जो शर् उसके पूर्व विसर्जनीय हो तो विकल्प करके लोप हो। जैसे-पुरुषाः ष्ठीवन्ति, पुरुषा ष्ठीवन्ति; वृक्षाः स्थातारः, वृक्षा स्थातारः इत्यादि। यहां खरप-रक शर् प्रत्याहार में तीन-तीन प्रयोग बनेंगे—पुरुषाः ष्ठीवन्ति, पुरुषा ष्ठीवन्ति,पुरुषाष्ष्ठीवन्ति इत्यादि।

अब खर् प्रत्याहार में सब वर्णों के साथ विसर्जनीय की सन्धि तो दिखला दी, परन्तु खर् प्रत्याहारस्थ क, ख, प, फ इन चार वर्णों के साथ विसर्जनीय को जो-जो होता है सो दिखलाते हैं—

२६४—कुप्वोः ≍क≍पौ च ॥ ८ । ३ । ३७ ॥

कवर्ग पवर्ग अर्थात् क, ख, प, फ इन चार वर्णों के परे विसर्जनीय को विकल्प करके क्रम से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश हों। पुरुष≍करोति, पुरुषः करोति; बाल≍खिद्यते, बालः खिद्यते, पुरुष≍पठति, पुरुषः पठति; बाल≍फलति,

बालः फणति इत्यादि। जिस पक्ष में जिह्वामूलीय उपध्मानीय आदेश नहीं होते उस पक्ष में विसर्जनीय ही रहते हैं॥

२६५—सोऽपदादौ॥ ८। ३। ३८॥

जो अपदादि अर्थात् एक पद में कवर्ग पवर्ग परे हों तो विसर्जनीय के स्थान में सकार आदेश हो जाता है। जैसे—यशः+कल्पम्=यशस्कल्पम्, पयः+कल्पम्=पयस्कल्पम्, अयः+पाशम्=अयस्पाशम्, अन्धः+पाशम्=अन्धस्पाशम् इत्यादि। यहां कल्पप्, पाशप् प्रत्ययों[1] के परे रु के विसर्जनीय को सकार हुआ है।

यहां से आगे जो पूर्व सूत्र से जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदेश होते हैं उन्हीं के अपवाद सब सूत्र समझना।

२६६—वा०-सोऽपदादावनव्ययस्य॥

॥ महा० ८। ३। ३८॥

जो अपदादि कवर्ग पवर्ग में विसर्जनीय को सकारादेश कहा है वह अव्यय के विसर्जनीय को न हो। जैसे—प्रातःकल्पम्, पुनःकल्पम् इत्यादि।

२६७—रोः काम्ये नियमार्थम्॥

॥ महा० ८। ३। ३८॥

जहां काम्यच् प्रत्यय के परे विसर्जनीय को सकारादेश[2] होता है वहां रु के रेफ का विसर्जनीय हो तो सकारादेश [हो। जैसे—

१. कल्पप्—ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (स्त्रै० ७९०) सूत्र से और पाशप्—याप्ये पाशप् (स्त्रै० ७७०) सूत्र से होता है।

२. सोऽपदादौ (सन्धि० २६५) सूत्र से।

पयस्काम्यति, यशस्काम्यति । यहां] न हो । जैसे—गी'काम्यति [1], पू'काम्यति ।

२६८—इणः षः ॥ ८ । ३ । ३९ ॥

इण् प्रत्याहार से उत्तर जो विसर्जनीय उसको मूर्धन्य षकार आदेश हो अपदादि कवर्ग पवर्ग परे हो तो । जैसे—हविष्काम्यति, सजूष्कल्पम्, दोष्कल्पम्, हविष्पाशम् दोष्पाशम् । यहां अपदादि की अनुवृत्ति करने का यह प्रयोजन है कि 'गुरुः पाठयति' यहां सकारादेश न हो । कवर्ग पवर्ग की अनुवृत्ति इसलिये आती है कि 'सर्पिस्ते, धनुस्ते' यहां मूर्धन्य न हो ।

अब यहां से आगे अवर्ण से परे विसर्जनीय को सकार और इण् प्रत्याहार से परे उसको मूर्द्धन्य आदेश सब सूत्रों में कहेंगे, ऐसा अधिकार समझना ।

२६९—नमस्पुरसोर्गत्योः ॥ ८ । ३ । ४० ॥

जो कवर्ग और पवर्ग परे हों तो गतिसंज्ञक नमस् और पुरस् शब्दों के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है । नमः + कर्ता = नमस्कर्ता, नमः + कृत्य = नमस्कृत्य, पुरस्कर्ता, पुरस्कृत्य इत्यादि ।

२७०—इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य ॥८।३।४१॥

इकार वा उकार जिसकी उपधा में हैं उस प्रत्ययभिन्न शब्द के विसर्जनीय को षकार होता है । जैसे—निर् + कृतम्—निष्कृतम्, निर् + पीतम्—निष्पीतम्, दुर् + कृतम्—दुष्कृतम्, दुर् + पीतम्= दुष्पीतम्, आविस् + कृतम्—आविष्कृतम्, प्रादुस् + कृतम्=

1 आत्मनो गिरमिच्छति—गी'काम्यति 'काम्यच्' (आ० ५८०) से काम्यच् प्रत्यय होता है ।

प्रादुष्कृतम्। इत्यादि। यहां 'अप्रत्यय' ग्रहण इसलिये है कि 'वायुः पाति' यहां षकार आदेश न हो।

२७१—वा०-पुम्मुहुसोः प्रतिषेधः॥

महा० ८। ३। ४१॥

पुम् और मुहुस् इन शब्दों में भी अप्रत्यय के विसर्जनीय हैं, यहां इस उक्त सूत्र से विसर्जनीय को षकाराऽऽदेश न हो। जैसे—पुंस्कामः, मुहुःकामः। यहां विसर्जनीय को षकार न हो।

२७२—तिरसोऽन्यतरस्याम्॥ ८। ३। ४२॥

गतिसंज्ञक तिरस् शब्द के जो विसर्जनीय [हैं] उनको कवर्ग पवर्ग के परे सकारादेश विकल्प करके होता है। पक्ष में विसर्जनीय रह जावेंगे। [जैसे—]तिरस्कृतम्, तिरःकृतम्; तिरस्कर्ता, तिरःकर्ता; तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य; तिरस्पिबति, तिरःपिबति। गतिग्रहण इसलिये है कि 'तिरः कृत्वा' यहां सकारादेश न हो।

२७३—द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे॥८।३।४३॥

कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान जो द्वि, त्रि और चतुर, शब्द इनके विसर्जनीय को षकार आदेश विकल्प करके हो कवर्ग पवर्ग परे हो तो। [जैसे—] द्विष्करोति, द्विःकरोति; त्रिष्करोति, त्रिःकरोति; चतुष्करोति, चतुःकरोति; द्विष्पठति, द्विःपठति; त्रिष्पठति, त्रिःपठति; चतुष्पठति, चतुःपठति इत्यादि। यहां 'कृत्वोऽर्थे' ग्रहण इसलिये है कि 'चतुष्कपालम्, चतुष्कण्टम्, चतुष्पथम्' इत्यादि में विकल्प न हो।

२७४—इसुसोः सामर्थ्ये॥ ८। ३। ४४॥

यहां विकल्प की अनुवृत्ति आती है। जो सामर्थ्य विदित होता हो तो कवर्ग पवर्ग के परे इस्-उस प्रत्ययान्त शब्दों के विस-

र्जनीय को षकारादेश विकल्प करके होता है। जैसे—हविष्करोति, हविः करोति, सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति; ज्योतिष्पश्यति, ज्योतिः पश्यति; यजुष्पठति, यजुः पठति इत्यादि। यहां 'सामर्थ्य' ग्रहण इसलिये है कि 'तिष्ठतु सर्पिः करोतु थलमन्नम्' इत्यादिकों में सापेक्ष होने से षकारादेश न हुआ।

२७५–नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ।८।३।४५॥

जो कवर्ग पवर्ग के परे समास में अनुत्तरपदस्थ अर्थात् उत्तरपद में इस् उस् न हो तो इस् उस् प्रत्ययान्त शब्दों के विसर्जनीय को नित्य षकार आदेश हो जावे। जैसे—सर्पिष्कुण्डिका, सर्पिष्पात्रम्, धनुष्करः इत्यादि। यहां 'अनुत्तरपदस्थ' ग्रहण इसलिये है कि 'सुसर्पिःपानम्, सुसर्पिःकुण्डिका' इत्यादि में षकारादेश नहीं हुआ।

२७६–अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ॥ ८ । ३ । ४६ ॥

[समास] में जो अकार से परे अव्यय को छोड़कर अनुत्तरपदस्थ विसर्जनीय को कृ और कमि धातु तथा कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी शब्द परे हों तो सकार आदेश हो। जैसे—अयस्कारः, अयस्कामः, अयस्कंसः, पयस्कुम्भः, पयस्कुम्भी। यहां स्त्रीलिङ्ग[1] में भी होता है। पयस्पात्रम्, अयस्कुशा, अयस्कर्णी। यहां अकार से परे ग्रहण इसलिये है कि 'गीःकारः, पूःकारः' यहां सकार न हो। तपरकरण इसलिये पढ़ा है कि 'भाःकामः' यहां न हो। और 'अव्यय' का निषेध इसलिये है कि—अन्तःकरणम्, प्रातःकालः,

१. प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति (परि० ६२) इस नियम से यहां भी सकारादेश होता है।

पुनःकरोतु। समास इसलिये है कि 'यशः करोति' यहां न हो। अनुत्तरपदस्थ इसलिये है कि 'सुवचः कामः' यहां न हो।

२७७–अधःशिरसी पदे ॥ ८ । ३ । ४७ ॥

जो समास में पद शब्द परे हो तो अधस् शिरस् के अनुत्तरपदस्थ विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। [जैसे—] अधस्पदम्, शिरस्पदम्, अधस्पदी, शिरस्पदी। यहां समासग्रहण इसलिये है कि 'अधः पदम्' यहां न हो। अनुत्तरपदस्थ ग्रहण इसलिये है कि 'परमशिरःपदम्' यहां सकारादेश न हुआ।

२७८—कस्कादिषु च ॥ ८ । ३ । ४८ ॥

जो-जो शब्द कस्क आदि गण में पढ़े हैं उनके विसर्जनीय को यथालिखित सकार वा षकार आदि जानना चाहिये। यहां भी एक पद से परे विसर्जनीय और उत्तरपद में कवर्ग पवर्ग पर लिये जाते हैं। जैसे–क + कः = कस्कः, कौतुस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः, शुनस्कर्णः, सद्यस्कालः, सद्यस्की, साद्यस्कः, कांस्कान्, सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पूलम्, यजुष्पात्रम्, अयस्काण्डः, मेदस्पिण्डः इति॥

२७९–छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः ॥८।३।४९॥

जो प्र और आम्रेडित को छोड़कर कवर्ग पवर्ग पर हों तो वेद में विकल्प करके विसर्जनीय को सकारादेश होता है। जैसे–अयःपात्रम्, अयस्पात्रम्। यहां प्र और आम्रेडित का निषेध इसलिये है कि 'इन्द्राय सोमाः प्रदिवो विदानाः' आम्रेडित–'पुरुषः पुरुषः परि' इत्यादि में सकारादेश न हुआ।

२८०–कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ॥ ८ । ३ । ५० ॥

कः, करत्, करति, कृधि, कृत इनके परे वेदों में अदिति शब्द

को छोड़ कर सब शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है। [जैसे—] विभतस्कः, विभतस्करत्, यशस्करति, विभतस्कृधि, अधस्पदम्, सहस्कृतम् इत्यादि। पूर्वसूत्र से सर्वत्र विकल्प करके प्राप्त था, इसलिये यह सूत्र नियमार्थ किया है। यहां अदिति का निषेध इसलिये है कि 'यथा नो अदितिः करत्' यहां सकारादेश न हुआ।

२८१–पञ्चम्याः परावध्यर्थे ॥ ८ । ३ । ५१ ॥

वेदों में जो अधि के अर्थ का परि उपसर्ग परे हो तो पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है। जैसे–दिवस्परि, दिवस्परि, इत्यादि। यहां 'पञ्चमी' का ग्रहण इसलिये है कि 'या गौः पर्येति' इत्यादि में नहीं होता। 'परि' इसलिये है कि 'लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयत्' इत्यादि में न हो। 'अध्यर्थे' इसलिये है कि 'दिवः पृथिव्याः पर्योज उद्भृतम्' इत्यादि में न हो।

२८२–पातौ च बहुलम् ॥ ८ । ३ । ५२ ॥

वेदों में पाति धातु के प्रयोग परे हों तो कहीं-कहीं पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है। जैसे–दिवस्पातु, राज्ञस्पातु, वृकेभ्यस्पातु, इत्यादि। कहीं कहीं नहीं भी होता—परिषदः पातु, इत्यादि।

२८३–षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ॥ ८ । ३ । ५३ ॥

वेदों में जो पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष परे हों तो षष्ठी के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। जैसे—'वाचस्पति', दिवस्पुत्राय सूर्याय, दिवस्पृष्ठे, पृथिव्यास्पृष्ठे, तमसस्पारम्, इडस्पदे समिध्यन, सूर्यं चक्षुर्दिवस्पयः, रायस्पोषेण समिषा मदन्तः। यहां 'षष्ठी' ग्रहण इसलिये है कि 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्' यहां न हुआ।

२८४—इडाया वा ॥ ८ । ३ । ५४ ॥

जो वेदों में पूर्वसूत्रोक्त पति आदि शब्द परे हों तो इडा शब्द की षष्ठी के विसर्जनीय को विकल्प करके सकारादेश होता है। जैसे—इडायास्पतिः, इडायाः पतिः इत्यादि।

२८५—अम्नरूधरवरित्युभयथा च्छन्दसि ॥ ८ । २ । ७० ॥

अम्नस्, ऊधस्, अवस् इन शब्दों के सकार को रु आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—अम्नस्+एव=[अम्न एव], अम्नरेव। ऊधस्+एव=[ऊध एव,] ऊधरेव। अवस्+एव=[अव एव], अवरेव इत्यादि। [पक्ष में रेफ आदेश होता है]

२८६—अहन् ॥ ८ । २ । ६८ ॥

अहन् शब्द को [पदान्त में] रु आदेश होता है। अहन्+भ्याम्=अहोभ्याम्। इस सूत्र पर यह वार्त्तिक है—

२८७—वा०—रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् ॥

२८७—वा०—रुत्वविधावहोरूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम् ॥ महा० ८ । २ । ६८ ॥

रुत्वविधि प्रकरण में रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे अहन् शब्द के नकार को रु आदेश होता है। जैसे—अहन्+रूपम्=अहोरूपम्, अहन्+रात्रः—अहोरात्र', अहन्+रथन्तरम्=अहोरथन्तरम्।

[कई आचार्यों का मत है कि वार्त्तिक में रूपादि ग्रहण रेफादि का उपलक्षणार्थ है। इससे 'अहोरम्यम्' इत्यादि में भी रुत्व हो जाता है।]

२८८—रोऽसुपि ॥ ८ । २ । ६९ ॥

जो सुप् से भिन्न कोई उत्तरपद परे हो तो अहन् शब्द के नकार को र आदेश होता है। इसमें यह विशेष है कि जहाँ रु होता है

वहाँ रुत्व भी होता है[1], और जहाँ र् होता है वहां रुत्व नहीं होता। जैसे—अहन्+ददाति = अहर्ददाति, अहन्+भुङ्क्ते = अहर्भुङ्क्ते इत्यादि।

इस पर यह वार्त्तिक है—

२८९—वा०—अहरादीनां पत्यादिषु ॥

महा० ८। २। ७०॥

जो अहन् आदि शब्दों में रेफ होता है उसके स्थान में एक पक्ष में रेफ को रेफ ही हो जावे पति आदि शब्द परे हों तो। [उसका] प्रयोजन यह है कि एक पक्ष में रेफ को विसर्जनीय और एक पक्ष में रेफादेश होता है। जैसे—अहर्पतिः, अहःपतिः; गीर्पतिः, गीःपतिः; धूर्पतिः, धूःपतिः इत्यादि।

२९०—वा०—छन्दसि भाषायां च प्रचेतसो राजन्युपसंख्यानम् ॥ महा० ८। २। ७०॥

लौकिक और वैदिक प्रयोगों में प्रचेतस् शब्द के सकार को राजन्य शब्द के परे रु आदेश विकल्प करके होता है। पक्ष में रेफ आदेश हो जावेगा। जैसे—प्रचेतस्+राजन् = प्रचेतोराजन्, [प्रचेता राजन्]।

२९१—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥८।२।७३॥

जो पदान्त और अवसान में वसुप्रत्ययान्त और स्रसु, ध्वंसु और अनडुह शब्द हों तो उनको दकारादेश होता है। वसुप्रत्ययान्त—विद्वस्+आसनम् = विद्वदासनम्। सेदिवस्+आगमनम् = सेदिवदागमनम् इत्यादि। उखास्रस्+अत्र = उखास्रदत्र, पर्णध्वस्+अत्र

1 हशि च (सन्धि० २५४) आदि से।

= पयोध्वदत्र इत्यादि। अनडुह्+इच्छा = अनडुदिच्छा, अनडुह्+उल्लुह्घनम् = अनडुदुल्लुह्घनम् इत्यादि।

अब जहां रु के पूर्व अच् को अनुनासिक होता है उसका प्रकरण लिखते हैं—

२६२—अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा॥८।३।२॥

यह सूत्र अधिकार के लिये है। जहां-जहां आगे ■ विधान करेंगे वहां-वहां रु के पूर्व वर्ण को विकल्प करके अनुनासिक होगा।

२६३—आतोऽटि नित्यम्॥ ८। ३। ३॥

जो वेदों में अट् प्रत्याहार के परे रु से पूर्व आकार हो तो उसको अनुनासिक नित्य ही हो जावे। जैसे—सूर्यवद् महाँ असि, देवाँ आसादयादिह।

२६४—अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः॥८।३।४॥

जिस पक्ष में रु से पूर्व [वर्ण को] अनुनासिक नहीं होता वहां उससे पूर्व वर्ण से परे अनुस्वार [का आगम] हो जाता है। जैसे—विद्वान्+चिनोति = विद्वांश्चिनोति।

२६५—वा०-विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य॥

महा० ८। ३। १॥

वेदों में विकल्प करके भवत्, भगवत्, अघवत् शब्दों के अन्त को रु और अव भाग को ओकार आदेश होता है। जैसे-भवत्+

१ यद्यपि इस सूत्र में छन्द की अनुवृत्ति कहीं से नहीं आती तथापि यह सूत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (सन्धि० १३०) सूत्र विहित 'र' के विषय ■ नित्य अनुनासिकत्व का विधान करता है। 'दीर्घादटि०' सूत्र में 'ऋतु' की अनुवृत्ति है अतः यहां वृत्ति में 'वेदों में' शब्द रक्खे हैं।

एहि = भो एहि, भगवन्नेहि; भगवत् + एहि = भगो एहि, भगवन्नेहि; अघवत् + याहि = अघो याहि, अघवन् याहि, इत्यादि।

अब सुट् प्रकरण को लिखते हैं जो कि इसी रु प्रकरण से सम्बन्ध रखता है।

२९६—सुट् कात् पूर्वः ॥ ६ । १ । १३३ ॥

यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे जहां-जहां सुट् का विधान करेंगे वहां-वहां वह ककार से पूर्व होगा।

२९७—अडभ्यासव्यवायेऽपि ॥[1]

जिसको सुट् का आगम विधान करें उसको अट् और अभ्यास के व्यवधान में भी ककार से पूर्व सुट् होवे।

२९८—संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे ॥ ६।१।१३४ ॥

भूषण अर्थ में सम्, परि, उप इन उपसर्गों से कृ धातु का कोई प्रयोग परे हो तो उसके ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है। जैसे—सम् + करोति = सम् + सुट् + करोति = संस्करोति। उक्त (२९७) सूत्र से अट् के व्यवधान में—सम + अ + करोत् = समस्करोत्, सम् + अकार्षीत् = समस्कार्षीत्। अभ्यास के व्यवधान में—सम् + चकरतुः = सञ्चस्करतुः, सम् + चकरुः = सञ्चस्करुः, इत्यादि। परि + सुट् + करोति = परिष्करोति। जो यहां दन्त्य सकार को मूर्धन्य[2] हो जाता है इसका विषय आख्यातिक ग्रन्थ के षत्वप्रकरण में लिखा है। परि + अ + सुट् + करोत् = पर्यस्करोत्,

---

१. यह काशिकानुसारी पाठ है। महाभाष्य (६।१।१३५) में 'अड्व्यवाय उपसंख्यानम्, अभ्यासव्यवाये च' दो वार्त्तिक हैं।

२. परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् (अ० ८२०) सूत्र से षत्व होता है।

पर्यष्करोत्। ये दो प्रयोग षत्व के विकल्प भी होते हैं। उप+सुट्+करोति=उपस्करोति, उपस्कारः, उपस्कर्ता, उपस्कृतम्, इत्यादि।

अब सम् के मकार को क्या होना चाहिये सो लिखते हैं—

२९९—समः सुटि ॥ ८ । ३ । ५ ॥

सुट् परे हो तो सम् के मकार को रु आदेश हो।

इस सूत्र से रु आदेश होकर विसर्ग प्राप्त हुआ, उसका अपवाद यह वार्त्तिक है—

३००—वा०-संपुंकानां सत्वम् ॥महा० ८।३।५॥

सम्, पुम्, कान् इनके रु को सकार ही होता है। रु को जो सकार किया है उससे पूर्व वर्ण को अनुनासिक और (पक्ष में उस से परे) अनुस्वार उक्त सूत्र में समझना। अनुनासिक पक्ष में—सँस्स्करोति, सँस्करोति। यहां पक्ष में एक सकार का लोप भी हो जाता है। सँस्स्कारः, सँस्कारः। जहां दो सकारों में एक को द्विर्वचन होता है वहां तीन सकार भी हो जाते हैं—सँस्स्स्कारः। अनुनासिक न हुआ तो 'संस्स्कारः, संस्कारः, संस्स्स्कारः' ये छः प्रयोग होते हैं।

प्रतियत्न अर्थात् जो किसी व्यवहार में अनेक गुणों का आरोपण करना, वैकृत अर्थात् विकार को प्राप्त होना, वाक्याध्याहार अर्थात् जो जानने योग्य अर्थ है उसके जानने के लिये वाक्य बोलना। इन तीन अर्थों में जो उप उपसर्ग से परे कृ धातु का प्रयोग हो तो ककार से पूर्व सुट् का आगम हो। प्रतियत्न—उपस्कुरुते एधोदकस्य। वैकृत—उपस्कृतं भुङ्क्ते। वाक्याध्याहार—उपस्कृतं ब्रूते, इत्यादि।

३०३—किरतौ लवने ॥ ६। १। १३७ ॥

लवन अर्थात् काटने अर्थ में जो कृ धातु का प्रयोग हो तो उप उपसर्ग से परे उसके ककार से पूर्व सुट् आगम होता है। जैसे—उप+किरति। यहां ककार से पूर्व सुट् होकर—कृषीवलः क्षेत्रमुपस्किरति। अट् के व्यवधान में—उपास्किरत्। अभ्यास के व्यवधान में—उपचस्करतु।

३०४—हिंसायां प्रतेश्च ॥ ६। १। १४८ ॥

हिंसा अर्थ में उप तथा प्रति उपसर्ग से परे कृ धातु का प्रयोग हो तो ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है। जैसे—उपस्किरति जीवान्, प्रतिस्किरति जीवान्, इत्यादि।

३०५—अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ॥ ६। १। १३९ ॥

चतुष्पात् अर्थात् चार पगवाले घोड़ा, हाथी, ऊंट, बकरी, गौ आदि और शकुनि अर्थात् मोर, तीतर, मुर्गा आदि, ये कर्त्ता हों तो अप उपसर्ग से परे कृ धातु के ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, [आलेखन अर्थात्] करोदना अर्थ सूचित होता हो तो।

३०६—वा०—किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम् ॥ महा० ६। १। १३९ ॥

हर्ष = आनन्दित होना, जीविका = कुछ प्राप्ति की इच्छा करना, कुलायकरण = किसी का आश्रय लेना। इन तीन अर्थों में वक्त सुट् का आगम होता है। हर्ष—अपस्किरते वृषो हृष्टः। बैल जब आनन्दयुक्त होते हैं तो सींगों से भूमि को कुरेदा करते हैं। जीविका—अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी। मुरगे क्षुधातुर होकर अपनी चोच से भूमि का कुरेदा करते हैं। कुलायकरण—अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी। कुत्ता आश्रय अर्थात् शरण चाहता हुआ भूमि को कुरेदता है, इत्यादि।

३०७—कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥६।१।१४०॥

यहा जाति अर्थ मे कुस्तुम्बुरु शब्द के सकार से पूर्व को सुट् का आगम निपातन किया है। कुस्तुम्बुरु किसी ओषधि का नाम है उसके फल—कुस्तुम्बुरूणि फलानि। यहा 'जाति' ग्रहण इसलिये है कि—'कुतुम्बुरूणि फलानि, यहा सुट न हुआ।

३०८—अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥६।१।१४१॥

क्रिया के निरन्तर होने मे 'अपरस्परा' यह शब्द निपातन किया है। अपरस्परा पठन्ति। निकृष्ट और उत्तम विद्यार्थी लोग निरन्तर पढते हैं। यहा 'सातत्य' ग्रहण इसलिये है कि 'अपरपरा गच्छन्ति अनियम से चलते हैं। यहा सुट न हुआ।

३०९—वा०—समो हिततयोर्वा लोपः ॥
महा० ६ । १ । १ । ४१ ॥

हित और तत शब्द के परे सम् के मकार का लोप विकल्प करके होता है। सहितम्, संहितम्, सततम्, संततम्। इसी सतत शब्द से सातत्य बनता है। जहा लोप नहीं होता वहा मकार को अनुस्वार होकर विकल्प से परसवर्ण भी हो जाता है[1]। [जैसे—सन्ततम्, संततम्]।

---

1 वा पदान्तस्य (सन्धि० १९८) सूत्र से।

३१०—वा०-समतुमुनोः कामे लोपो वक्तव्यः

॥ महा० ६ । १ । ४१ ॥

जो काम शब्द परे हो तो सम् और तुमुन् प्रत्यय के मकार का लोप होता है । सम्+काम =सकाम । भोक्तुम्+कामः = भोक्तुकाम, इत्यादि ।

३११—वा०-अवश्यमः कृत्ये लोपो वक्तव्यः

॥ महा० ६ । १ । ४१ ॥

जो कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के परे पूर्व अवश्यम् शब्द हो तो उसके मकार का लोप हो जावे । अवश्यम्—भाव्यम्, अवश्यभाव्यम, अवश्यलाव्यम्, इत्यादि । इन वार्तिकों का यहां प्रसंग नहीं था, परन्तु इसी (३०८) सूत्र पर थे इसलिये लिख दिये हैं ।

३१२—गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥ ६ । १ । १४२ ॥

सेवित, असेवित और प्रमाण अर्थ का वाचक 'गोष्पदम्' यह निपातन किया है । सेवित—गोष्पदो देश । ऐसा यहां विग्रह होना चाहिये कि—गाव पद्यन्त प्राध्यन्ते यत्र तत् गोष्पदम् । असेवित—गोष्पदमरण्यम् । प्रमाण—गोष्पदपूर वृष्टो मेघ । यहां इन अर्थों का ग्रहण इसलिये है कि 'गो पदम्=गोपदम्' यहां सुट् न हुआ ।

३१३—आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ॥ ६ । १ । १४३ ॥

प्रतिष्ठा अर्थ में 'आस्पदम्' यह निपातन किया है । आस्पद स्थिरमालम्बम् । यहां भी पद शब्द के पूर्व सुट् हुआ है । यहां 'प्रतिष्ठा' ग्रहण इसलिये है कि 'आपदमप्रतिष्ठा प्राप्तो देवदत्त' यहां न हुआ ।

३१४—आश्चर्यमनित्ये ॥ ६ । १ । १४४ ॥

अनित्य अर्थात् जो कभी कभी हो सर्वदा न हो। इस अनित्य अर्थ में 'आश्चर्यम्' यह निपातन किया है। 'आ+चर्यम्' यहां चकार से पूर्व सुट् हो जाता है—आश्चर्यमिदं कर्म। 'अनित्य' ग्रहण इसलिये है कि 'आचर्यं सत्यम्' यहां न हुआ, क्योंकि सत्य का आचरण नित्य करना चाहिये।

३१५—वर्चस्केऽवस्करः ॥ ६ । १ । १४५ ॥

वर्चस्क अर्थात् अन्न के मल अर्थ में, 'अवस्कर' यह निपातन किया है। यहां 'वर्चस्क' ग्रहण इसलिये है कि 'अवकर' यहां न हुआ।

३१६—अपस्करो रथाङ्गम् ॥ ६ । १ । १४६ ॥

रथ के अङ्ग अर्थात् अवयव अर्थ में 'अपस्कर' यह शब्द सुट् सहित निपातन किया है। यहां 'रथाङ्ग' ग्रहण इसलिये है कि 'अपकर' यहां न हुआ।

३१७—विष्किरः शकुनिर्वा ॥ ६ । १ । १४७ ॥

शकुनि अर्थात् पक्षी अर्थ में विपूर्वक किर शब्द के ककार से पूर्व सुट् का आगम विकल्प करके निपातन किया है। विष्किर, विकिर। दोनों पक्षिविशेष के नाम हैं।

३१८—ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥६।१।१४८॥

वैदिक शब्दों में ह्रस्व से परे चन्द्र शब्द हो तो उसके चकार से पूर्व सुट् का आगम होता है। सुश्चन्द्रा युष्मान्। सु+चन्द्र = सुश्चन्द्र। ह्रस्व से परे इसलिये कहा है कि 'पराचन्द्र' इत्यादि में न हुआ। 'उत्तरपद' ग्रहण इसलिये है कि समास[1] में ही सुट् का आगम हो। इससे 'शुक्रमसि चन्द्रमसि' यहां न हुआ।

---

१ पूर्वपद उत्तरपद का व्यवहार समास में ही होता है। अतः उत्तरपद ग्रहण से यहां समास में सुडागम का विधान समझना चाहिये।

३१९—प्रतिष्कशश्च कशेः ॥ ६ । १ । १४९ ॥

यहां प्रतिपूर्वक कश धातु का 'प्रतिष्कशः' यह शब्द निपातन किया है। प्रति+कशः=प्रतिष्कशः। यहां ककार से पूर्व सुट् और सकार को मूर्धन्यादेश निपातन से हुआ है।

३२०—प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥६।१।१५०॥

ऋषि अर्थ में 'प्रस्कण्वः, हरिश्चन्द्रः' ये दोनों शब्द सुट् आगम के साथ निपातन किये हैं। अर्थात् ये दोनों ऋषि के नाम हैं। जहां और किसी के नाम होंगे वहां सुट् न होगा, [प्रकण्व, हरिचन्द्र] इत्यादि।

३२१—मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः॥ ६ । १ । १५१ ॥

मस्करः (बांस की लकड़ी) और मस्करी (उसको धारण करने वाला संन्यासी), ये दोनों शब्द वेणु और परिव्राजक अर्थ में निपातन किये हैं। जहां इनसे अन्य अर्थ हो वहां मकरः=धूर्तता और मकरी=धूर्त मनुष्य का नाम जानना।

३२२—कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥६।१।१५२॥

कास्तीर और अजस्तुन्द, ये दो शब्द नगर अर्थ में निपातन किये हैं। अर्थात् किसी नगर के नाम हो यहां इन दो शब्दों के तकार से पूर्व सुट् होता है। कास्तीरं नाम नगरम्, अजस्तुन्दं नाम नगरम्। अन्य अर्थों में 'कातीरम्, अजतुन्दम्' ऐसा ही रहेगा।

३२३—पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥ ६ । १ । १५३ ॥

जहां पारस्कर आदि शब्द संज्ञा अर्थात् किसी के नियत नाम होते हैं वहां इन में सुट् का आगम किया है। जैसे—पारस्करः।

यहां प्रशान् का निषेध इसलिये है कि 'प्रशान्छिनत्ति' प्रशाञ्चेतति' यहां रु आदेश न हुआ। 'छव्' ग्रहण इसलिये है कि 'भवान् वदतु' यहां न हुआ। अम्पर ग्रहण इसलिये है कि 'भवान् त्सरति' यहां न हुआ।

३२६—उभयथर्क्षु ॥ ८ । ३ । ८ ॥

पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त रु आदेश का इस सूत्र से विकल्प किया है। अम्परक छव् प्रत्याहार के परे ऋग्वेद में नकारान्त पद के नकार को रु आदेश हो विकल्प करके हो। जैसे—तस्मिँस्त्वा दधाति, तस्मिंस्त्वा दधाति। जिस पक्ष में रु नहीं होता वहां नकार बना रहता है—तस्मिन्त्वा, दधाति इत्यादि।

३३०—दीर्घादटि समानपादे ॥ ८ । ३ । ९ ॥

दीर्घ से परे पदान्त नकार को अट् प्रत्याहार के परे समानपाद अर्थात् एकपाद में रु आदेश हो ऋग्वेद में विकल्प करके। जैसे—जनाँ अचुच्यवीतन। यहां रु को यकार होके लोप[1] हो जाता है। गिरींरचुच्यवीतन। यहां लोप न होने से अकार में रेफ मिल गया। विकल्प ग्रहण इसलिये है कि—आदित्यान् याचिषामहे। यहां रु आदेश न हुआ। रु के पूर्व [का] अनुनासिक नित्य होता है सो लिख चुके हैं, परन्तु वह दीर्घ आकार को ही नित्य होगा ईकार ऊकार को विकल्प करके होगा। परिधीँ रति, परिधींरति, वसूँरिह, वसूंरिह, त्वमग्ने वसूँरिह रुद्रा आदित्या उत इत्यादि।

३३१—नॄन् पे ॥ ८ । ३ । १० ॥

जो पकारादि उत्तरपद परे हो तो नॄन् शब्द के नकार को विकल्प करके रु आदेश होता है। अन्य कार्य सब पूर्व के तुल्य जानना। जैसे—नॄँ पिपर्त्ति, नॄँ:पिपर्त्ति, नॄं पिपर्त्ति, नॄं:

१ सन्धि० २४९, २५१ ॥

पिपर्त्ति। एक पक्ष में 'नन् पिपर्त्ति' इत्यादि। यहां पकारादि ग्रहण इसलिये है कि 'नन् भोजयति' यहां कुछ भी विकार नहीं होता।

३३२—स्वतवान् पायौ ॥ ८ । ३ । ११ ॥

पायु शब्द परे हो तो स्वतवान् शब्द के नकार को रु आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—भुवस्तस्य स्वतवाः पायुरग्ने, स्वतवान् पायुः, इत्यादि। यहां सब कार्य पूर्ववत् होते हैं।

३३३—कानाम्रेडिते ॥ ८ । ३ । १२ ॥

आम्रेडित अर्थात् द्वितीय कान् शब्द परे हो तो कान् शब्द के नकार को रु आदेश होता है। जैसे—कान्+कान्। यहां रु होकर 'संपुंकानां सत्वम्'[1] इस वार्त्तिक से जिह्वामूलीय और विसर्जनीय को बाधकर सकार ही हो जाता है, कांस्कान्।

इतीरितस्सन्धिविधिं महामुने-
र्निशम्य सन्धेर्विषयस्सतां मुदे।
सुखेन तच्छास्त्रप्रवृत्तयेऽनया
मयार्यया कल्पितयार्यभाषया ॥ १ ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वती-
प्रणीतार्यभाषाविवृतिसहित-
स्सन्धिविषयस्समाप्तः।

---

१. सन्धि० १००।

सन्धिविषये व्याख्यातानां सूत्रवार्त्तिकानां वर्णानुक्रम-सूची

संशोधनपत्रम्

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	५	और कभी	और न कभी
१६	२	यज्ञकाण्ड	याज्याकाण्ड
२५	९	प्रयत्य	प्रत्यय
२७	८	यहां ओष्ठस्थानी गम धातु के	यहां गम धातु के ओष्ठस्थानी
२९	१९	(आ० ६।१।७०)	(सन्धि २०६)
४०	११	चिकीर्षे	चिकीर्ष्
४४	१५	कि स्थानी	कि [कार्य करने के लिये] स्थानी
४९	१५	पुष्पमित्र	पुष्यमित्र
५०	२	षवौ'	ष्वौ'
५५	२१	से एकादेश	से पूर्वरूप एकादेश
५७	१९	प्रत्ययभा०	प्रत्यये भा०
५९	११	वा—सुप्या	वा सुप्या
६२	१७	स्तोश्चुना	स्तोः श्चुना
६४	१८	मधु+ उर्णा	मधु+ ऊर्णा
६६	५	रत्न	रत्ना
७२	२	गुणवाची	गुणसंज्ञक
७७	२२,२५	कुमारी	कुमारि
७९	७	माम	माल
९२	१४	नित्ये वचनम्	नित्यवचनम
९५	७	अप्सराः	अप्सराः
९६	९	अफसरा	अप्सराः
९९	६	'कामिः'	
११६	९	वेदों में	
१२१	१८	गोष्पदमरण्यम्	

संशोधनपत्रम्

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	५	और कभी	और न कभी
१६	२	यस्रकाण्ड	याज्याकाण्ड
२५	९	प्रयत्य	प्रत्यय
२७	८	यहां ओष्ठस्थानी गम धातु के	यहां गम धातु के ओष्ठस्थानी
२९	१९	(भा० ६।१।७०)	(सन्धि २०६)
४०	११	चिकीर्ष	चिकीर्ष्
४४	१५	कि स्थानी	कि [कार्य करने के लिये] स्थानी
४९	१५	पुष्पमित्र	पुष्यमित्र
५०	२	च्वौ'	च्वौ'
५५	२१	से एकादेश	से पूर्वरूप एकादेश
५७	१९	प्रत्ययभा०	प्रत्यये भा०
५९	११	वा—सुप्या	वा सुप्या
६२	१७	स्तोश्चुना	स्तोः श्चुना
६४	१८	मधु+वर्णा	मधु+ऊर्णा
६६	५	रक्ष	रक्षा
७२	२	गुणवाची	गुणसंज्ञक
७३	२२,२५	कुमारी	कुमारि
७९	७	माम	माल
९२	१४	नित्ये वचनम्	नित्यवचनम्
९५	७	अप्सराः	अप्सराः
९६	९	अफसरा	अफ्सराः
९९	६	'अग्नि:'	'अग्निः'
११६	९	वेदों में	वेदों में',
१२१	१८	गोष्पदमरण्यम्	अगोष्पदमरण्यम्